आधुनिक हिन्दी का आदिकाल

आधुनिक हिन्दी का आदिकाल

(१८५७–१९०८)

आधुनिक हिन्दी का आदिकाल

(१८५७–१९०८)

श्रीनारायण चतुर्वेदी

१९७३

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९७३ ई०

मूल्य : १४) रु०

मुद्रक

अग्रवाल प्रेस

इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी की व्याख्यानमाला की योजना के अन्तर्गत महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, डा० जाकिर हुसेन आदि १८ शीर्षस्थ विद्वानों के व्याख्यान हो चुके हैं। इसी परंपरा में वयोवृद्ध तथा लब्धप्रतिष्ठ हिंदी विद्वान पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी का व्याख्यान सितंबर ९ तथा १०, १९७२ को दो बैठकों में आयोजित हुआ था। व्याख्यान का शीर्षक उस समय था "आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रथम चरण", किन्तु अब उसे "आधुनिक हिन्दी साहित्य का आदिकाल" शीर्षक से प्रकाशित किया जा रहा है।

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी हिन्दी की उस पीढ़ी के साहित्यकार तथा विचारक हैं जिन्होंने खड़ीबोली हिन्दी को उसके शैशव काल में नाना रूपों में विकसित तथा पल्लवित होते देखा था। उस समय के उल्लेखयोग्य योग्य रचनाकारों से तथा उनकी कृतियों से चतुर्वेदी जी का घनिष्ठ व्यक्तिगत परिचय था। यही नहीं, उस समय की अनेक अलभ्य कृतियाँ उनके निजी संकलन में अद्यावधि प्राप्त हैं। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी साहित्य के इतिहासकार "अंधकार युग" मानते रहे हैं। चतुर्वेदी जी के भाषण में प्राप्त प्रचुर सामग्री से यह स्वयंसिद्ध है कि उस समय का जागरुक लेखक साहित्य ही नहीं, विज्ञान, भूगोल, ज्योतिष तथा गणित आदि अनेक विषयों पर रचना करके खड़ीबोली हिन्दी को नाना रूपों में समृद्ध करने में दत्तचित्त था। चतुर्वेदी जी की पैनी आलोचनात्मक दृष्टि ने देश के सांस्कृतिक परिवेश में इस काल के साहित्य के मर्म को निरखने-परखने का उत्तम प्रयास किया है।

विश्वास है पुस्तक रूप में प्रकाशित यह भाषण हिन्दी साहित्य के अध्येताओं तथा विद्वानों को अनेक दृष्टियों से विचारोत्तेजक तथा उपयोगी सिद्ध होगा।

२०-६-१९७३
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

उमाशंकर शुक्ल
सचिव

दो शब्द

उत्तर प्रदेश की हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद ने मुझसे अपनी भाषणमालाओं के क्रम में "आधुनिक हिंदी का आदिकाल" पर तीन भाषण देने का अनुरोध किया था। मैंने इसे स्वीकार कर लिया। इस पुस्तक में वे ही तीन भाषण प्रकाशित हो रहे हैं।

मेरे सामने पहला प्रश्न यह था कि "आधुनिक हिंदी का आदि काल" कब से आरंभ हुआ और कब समाप्त हुआ। इस संबंध में मैंने हिंदी भाषा के इतिहासकारों का सहारा न लेकर स्वतन्त्र रूप से विचार किया। मेरी समझ से प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद ही से हिंदी में प्रत्यक्ष रूप से मोड़ आया, यद्यपि इसके बीज कुछ पहिले ही से प्रकट होने लगे थे क्योंकि खड़ीबोली हिंदी का उपयोग व्यापक रूप से सारे हिंदी भाषी क्षेत्र में गद्य लेखन के लिए होने लगा था और पारम्परिक विषयों के साथ-साथ नये विषयों पर भी रचनाएँ होने लगी थीं। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के बाद इस प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा जिसकी परिणति भारतेन्दु के समय में हुई। उसके बाद भाषा और साहित्य का तेजी से विकास होने लगा और द्विवेदी युग के आरंभ तक हिंदी का रूप निश्चित हो गया। मैं द्विवेदी युग १९०८ या उसके बाद से मानता हूँ। जब द्विवेदी जी १९०२ में सरस्वती के संपादक हुए तब वे अपेक्षाकृत अज्ञात थे और साहित्य संसार में उनका प्रभाव नहीं था। किंतु छः सात वर्षों में वे प्रभावशाली हो गये और तब हिंदी संसार पर वे छा गये। इसीलिए मैं द्विवेदी युग को १९०८ या तत्काल उसके बाद से मानता हूँ। द्विवेदी युग बहुत थोड़े काल तक रहा। यद्यपि पहली छायावादी कविता १९१२

में प्रकाशित हुई थी तथापि उसका जोर १९१५ से हुआ, और तब से छायावाद युग आरंभ हुआ। इसीलिए मैंने आधुनिक हिंदी के आदि काल को १८५८ से १९०८ तक माना है। मैं जानता हूँ कि अनेक विद्वान मुझसे सहमत न होंगे, किन्तु मैं स्वतन्त्ररूप से जिस निर्णय पर पहुँचा, उसका मैंने अनुसरण किया। इस संबंध में एकेडेमी ने मुझे कोई निर्देश नहीं दिया था।

तीन भाषणों में इतने विस्तृत और अत्यन्त क्रियाशील युग का सम्यक लेखा-जोखा लेना और उस युग के सभी लेखकों का वर्णन करना या प्रमुख लेखकों के ही कृतित्व की समीक्षा करना संभव नहीं है। अतएव मैंने श्रोताओं को उस युग की रूपरेखा, प्रवृत्तियों और उनके कारणों तथा क्रियाकलापों का सामान्य परिचय देना ही पर्याप्त समझा। यदि मैं विषय के साथ ठीक-ठीक न्याय करने का प्रयास करता तो मुझे एक हजार से भी अधिक पृष्ठ लिखने पड़ते। मैंने भाषण तैयार करने में बड़ा संयम बरता और अपनी इच्छा के विरुद्ध अनेक बातें जो मैं कहना चाहता था, उन्हें छोड़ गया। फिर भी यह भाषण इतना लम्बा हो गया जिसका मुझे खेद है। थोड़े में बहुत बात कह देना बड़े समर्थ लेखक या वक्ता ही के लिए शक्य है। मैं तो सामान्य लेखक भी नहीं हूँ। इसी संक्षेपीकरण के प्रयास में मैंने अनेक उन साहित्यकारों की चर्चा की ही नहीं या अति संक्षेप में की, जो बहुचर्चित हैं और जिनके बारे में सामान्य प्रबुद्ध हिंदी प्रेमी काफी जानते हैं। मैंने उन लोगों की विशेष रूप से चर्चा की है जो अपेक्षाकृत कम विज्ञापित हैं या जिन्हें लोग भूल गये हैं किंतु जो मेरी दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं।

जिस ध्यान और रुचि से मेरे तीन-साढ़े तीन घण्टों के भाषणों को इलाहाबाद के प्राय: दो सौ विदग्ध साहित्यकारों, प्राध्यापकों, शोधछात्रों और हिंदी प्रेमियों ने सुना, उससे मुझे पूर्ण संतोष ही नहीं हुआ—मैं उनकी कृपा से अभिभूत हो गया। इलाहाबाद बहुत दिनों से इस राज्य का बुद्धिवादियों का सर्वोत्कृष्ट केन्द्र है। अन्यत्र

ऐसे और इतने विदग्ध श्रोता मिलना कठिन है। यदि मैं यह न जानता होता तो शायद मैं एकेडेमी के निमंत्रण को स्वीकार ही न करता क्योंकि "अरसिकेशु कवित्व निवेदनम् शिरसि मालिख" का मैं कायल हूँ। मैं स्वयं "प्रयागवाला" हूँ और संभव है कि मेरी इस धारणा में स्थानीय प्रेम का कुछ पुट हो।

भाषणों में जो बातें मैंने कही हैं, उनके संबंध में कुछ कहना या उनका सारांश बतलाना व्यर्थ है। यह आपके सामने है और आप स्वयं उनको पढ़कर अपने निष्कर्ष निकाल सकते हैं। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मुझे अपने विचारों और निष्कर्षों का आग्रह नहीं है। यदि मुझे अपने किसी विचार या निष्कर्ष को बदलने के लिए काफी प्रमाण और तर्क मिलें तो मैं सदैव उसे बदलने को प्रस्तुत हूँ।

इस भाषण को तैयार करने में मैंने पुस्तकों से कहीं-कहीं उनके उद्धरण देने के अतिरिक्त सहायता नहीं ली। मैंने वे ही बातें कहीं हैं जो अपने अनियमित पठन-पाठन में मेरे पल्ले पड़ीं या जिन्हें मैं स्वयं व्यक्तिगत रूप से जानता हूँ। अतएव यह "किताबी" नहीं है।

अंत में पाठकों से यह निवेदन करना आवश्यक है कि इसे पढ़ते समय वे कृपाकर यह याद रखें कि यह भाषण है, निबन्ध नहीं। दोनों की शैलियों में भेद है। भाषण में श्रोताओं से तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करना पड़ता है तथा भाषा और शैली इतनी सरल रखनी पड़ती है कि श्रोता सुनते ही समझ जायें। यदि निबन्ध में कोई वाक्य या पैराग्राफ एक बार पढ़ने से समझ में नहीं आता तो पाठक उसे दुबारा पढ़कर समझ सकता है। किन्तु भाषण में इसका अवकाश नहीं रहता। भाषण में उद्धृत कविताओं का पाठ काकु के साथ किया जा सकता है जिससे पाठक उसके अर्थ और भाव को तत्काल ग्रहण कर सकते हैं। कभी-कभी आवश्यकतानुसार लिखे भाषण की किसी बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ मौखिक बातें भी कही

जा सकतीं हैं, और कहीं गयीं, किन्तु भाषण जब छपता है तो पाठक प्राय: उसे निबन्ध की भांति पढ़ते हैं और उसमें "निबन्धत्व" न पाकर कभी-कभी निराश हो जाते हैं। यदि मैं ये ही बातें निबन्ध या पुस्तक के रूप में लिखता तो उसकी शैली कुछ और ही होती। भाषण के छपवाने में बड़ा खतरा यह रहता है कि पाठक कहीं "श्रव्य" को "पाठ्य" न समझ लें। अतएव अपने "भाषण" के कृपालु पाठकों से यह निवेदन कर देना आवश्यक समझता हूँ कि यह "भाषण" है और उससे निबन्ध या पुस्तक पढ़ने के आनन्द प्राप्त करने की आशा न करें, नहीं तो उन्हें निराश होना पड़ेगा।

यह जानते और समझते हुए भी मैं अपने अनेक आदरणीय मित्रों के अनुरोध से इसे प्रकाशित कराने को राजी हो गया। हिन्दुस्तानी एकेडेमी के अधिकारियों की भी ऐसी ही इच्छा थी।

मैं श्री यतीशप्रसाद पाठक के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने कृपा कर मुझे स्वामी दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश की मूल हस्तलिपि के चार पृष्ठों के फोटो लेने की अनुमति दे दी जो इस भाषण में छपे हैं।

मेरे ऐसे व्यक्ति को, जिसका हिंदी जगत में कोई विशिष्ट स्थान नहीं है, हिन्दुस्तानी एकेडेमी ऐसी संस्था ने भाषण देने के लिए निमंत्रित कर गौरवान्वित किया। इसके लिए मैं उसके प्रति, तथा इतने लम्बे भाषणों को धैर्य के साथ "सहन" करने के लिए उस समारोह में सम्मिलित विदग्ध श्रोताओं और विशेष रूप से एकेडेमी के अध्यक्ष माननीय न्यायमूर्ति श्री सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी तथा उसके सचिव श्री उमाशंकर शुक्ल के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। मैं श्री बालकृष्ण राव की कृपा को भी नहीं भूल सकता जिन्होंने सब से पहिले इस भाषण का प्रस्ताव मेरे सामने रखा था।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

विषय-सूची
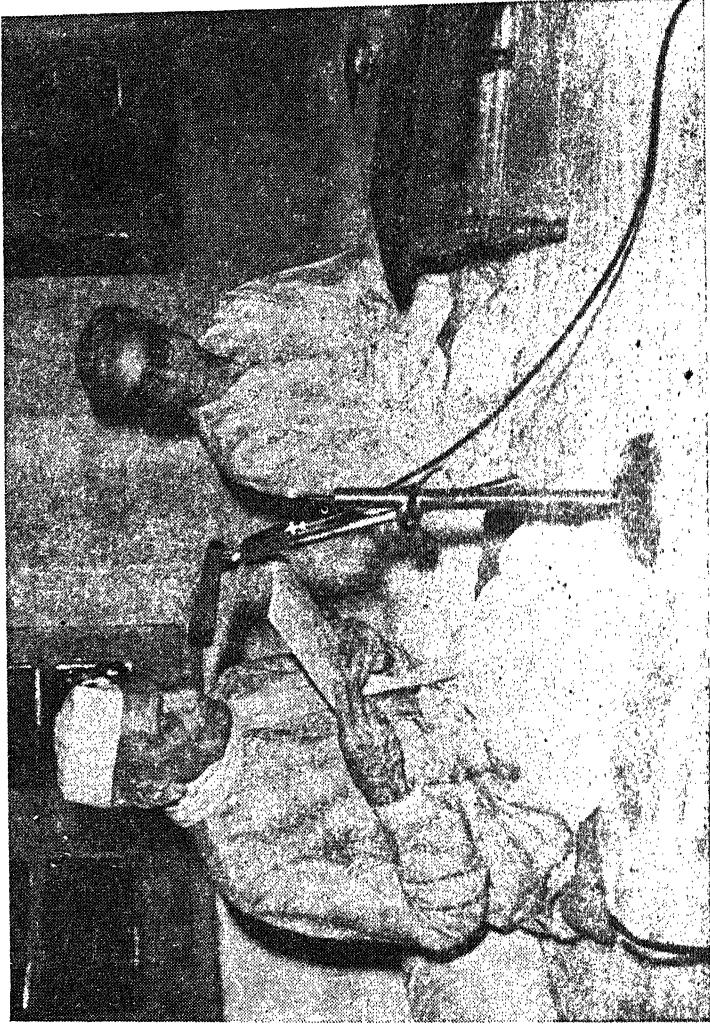
'आधुनिक हिन्दी का आदिकाल' विषय पर लिखित भाषण पढ़ते हुए पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी। दायें बैठे हुए एकेडेमी के अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री सुरेन्द्रनारायण द्विवेदी।

आरंभिक वक्तव्य

मेरे आदरणीय मित्र और बन्धु राय कृष्णदासजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध कला भवन संग्रहालय के जनक और निर्देशक हैं। यह कई दृष्टियों से देश में अपने ढंग का अपूर्व संग्रहालय है। इसमें हिन्दी साहित्य से सम्बन्धित सामग्री का बड़ा महत्वपूर्ण संग्रह है। भारतेन्दु का पुस्तकालय और उनके उपयोग की बहुत सी वस्तुएं उसमें संग्रहीत हैं। द्विवेदीयुग के साहित्य का भी अपूर्व संकलन है। उन्होंने उस युग के साहित्यकारों के चित्रों, पांडुलिपियों, पत्रों, पुस्तकों आदि की एक प्रदर्शनी का आयोजन किया और साथ में एक विचार गोष्ठी भी रखी। अपने सहज स्नेह के कारण उन्होंने मुझसे प्रदर्शनी के उद्घाटन करने का आग्रह किया और गोष्ठी में द्विवेदी युग की कविता और उसके कृतिकारों पर एक भाषण देने का भी अनुरोध किया। मैं अपने को इस गौरव के लिए सर्वथा अनधिकारी और अयोग्य समझता हूँ। मैं यह शिष्टताजन्य विनम्रता के कारण नहीं कह रहा। मैं चौबे हूँ, और चौबे पर विनम्रता का आरोप नहीं लगाया जा सकता। एक बार मुंशी अजमेरीजी 'हास्यावतार' पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के गाँव मलेपुर गये। जैसा कि आप जानते हैं, अजमेरीजी चारण या भाट वंश के थे। वैसे तो चौबे जगन्नाथप्रसादजी बड़े मुँहफट और बेतकल्लुफ व्यक्ति थे, किन्तु वे घर पर आये अजमेरीजी के साथ तकल्लुफ की बातें करने लगे। भोजन के लिए जब दोनों उठे तो चतुर्वेदीजी दरवाजा खोल कर 'आप पहिले' कहकर विनम्रता से उनके पीछे खड़े हो गये। अजमेरीजी ठिठक गये और तुरन्त यह आशु दोहा कहा:

तुम चौबे, हम भाट हैं, कछू न कीजै सोच,
दोनों कुल में त्याज्य हैं, लज्जा औ संकोच।

मुझे चौबे होने का गर्व है। इसलिये विनम्रता की बात नहीं कर सकता, केवल एक वास्तविक तथ्य ही कह रहा हूँ कि मैं विद्वत् समाज में ऐसे साहित्यिक विषय पर बोलने का अपने को अधिकारी नहीं समझता। इसका कारण यह है कि मेरी शिक्षा अव्यवस्थित रही। आरम्भ में महाजनी पाठशाला में मुड़िया और महाजनी हिसाब पढ़ा और हुंडी लिखना सीखा। यज्ञोपवीत होने पर पिताजी के आदेश से कई महीने मृगचर्म बिछा कर धरती पर सोया, एक कर्मकांडी ब्राह्मण के निदेशन में तीन महीने तक त्रिकाल संध्या और रुद्री के 'गणानांत्वागणपति' तथा पुरुष सूक्त को सस्वर याद किया। फिर अंग्रेज़ी स्कूल में भर्ती हो गया। उन दिनों मेरी उच्चाभिलाषा डाक्टर होने की थी, अतएव मैंने संस्कृत न लेकर आरम्भ ही से विज्ञान पढ़ा। इंटर में फिजिक्स, कैमिस्ट्री और बायोलॉजी पढ़ी। किन्तु जुओलॉजी में मेढ़क की चीरफाड़ को मेरे वैष्णव संस्कारों ने ग्रहण न किया। सुना था कि डाक्टरी में तो शवों की भी चीर-फाड़ करनी पड़ती है। इंटर पास करने के बाद मैंने बी० ए० में अंग्रेज़ी साहित्य, अर्थशास्त्र और इतिहास लेकर विज्ञान से पिंड छुड़ाया। मेरे विद्यार्थी काल में हाई स्कूल से आगे हिन्दी पढ़ायी ही नहीं जाती थी। उस समय प्रयाग विश्वविद्यालय ऐंट्रेंस या मैट्रिक की परीक्षा लेता था। उसमें हिन्दी लेना अनिवार्य न था, पर जब शिक्षा विभाग ने माध्यमिक शिक्षा को अपने एकाधिकार का क्षेत्र बनाकर ऐंट्रेंस के साथ एस० एल० सी० की परीक्षा आरम्भ की तो उसमें हिन्दी या उर्दू लेना अनिवार्य कर दिया गया। मैंने एस० एल० सी० किया। ऐंट्रेंस में तो हिन्दी लेने वालों को अयोध्याकांड और सुधाकर द्विवेदी की 'राम कहानी' आदि पढ़नी पड़ती थीं, व्याकरण, छंदशास्त्र और अलंकार घोखने पड़ते थे, पर एस० एल० सी० की अनिवार्य हिन्दी में कोई पुस्तक नहीं पढ़ाई जाती थी। एक अंग्रेज़ी का पैराग्राफ हिन्दी में अनुवाद करने के लिए दे

दिया जाता था तथा कुछ सरल हिन्दी गद्य के साधारण उद्धरण और दोहे आदि देकर उनका भावार्थ पूछ लिया जाता था। अतएव वह हिन्दी की शिक्षा कैसी रही होगी, इसका आप अनुमान कर सकते हैं। मैंने १६१२ में एस० एल० सी० उत्तीर्ण किया। इसे ६० वर्ष हो गये। अतएव मेरे हिन्दी अध्ययन का ज्ञान उस समय की एस० एल० सी० की हिन्दी है, और उसकी भी जानकारी इन ६० वर्षों के अंतराल में दिनोंदिन धूमिल होती गयी है। मेरे पास हिन्दी की इतनी ही पूँजी है। नौकरी में शिक्षा विभाग में रहते हुए भी अधिकांश जीवन प्रशासकीय शाखा में व्यतीत हुआ और उसमें राजभाषा अंग्रेज़ी में नोट लिखने का अभ्यास अवश्य हो गया। अतएव आप स्वयं सोच सकते हैं कि मैं हिन्दी के विद्वानों के बीच हिन्दी साहित्य पर बोलने का कितना अधिकारी हूँ। किन्तु राय साहब मेरी पीढ़ी के इनेगिने लोगों में रह गये हैं और उनकी सदैव मुझ पर कृपा और स्नेह रहा है। अतएव अपनी कमजोरी जानते हुए भी उनके अनुरोध को न टाल सका और हिन्दी के महान विद्वानों के समक्ष बोलने का दुःसाहस कर बैठा। इसके लिये मैंने तैयारी की, नोट्स तैयार किये। किन्तु गोष्ठी में १५, २० मिनट का ही भाषण शोभा देता है, नहीं तो मेरे ऐसे व्यक्ति की घंटे-डेढ़-घंटे की बकवास से श्रोता 'बोर' हो जाते। अतएव मैंने अपने सब नोट्स का उपयोग न कर के प्रायः १५:२० मिनिट का भाषण लिख लिया। भाषण के बाद चाहें शिष्टतावश ही क्यों न हो, कई विद्वानों ने मेरे भाषण की मुझसे व्यक्तिगत रूप से प्रशंसा की, और कई मित्रों ने, जिनका अनुरोध टालना मेरे लिये सम्भव नहीं है, जैसे अशोकजी और विद्यानिवासजी मिश्र, मुझ पर जोर दिया कि मैं अपने नोट्स का पूरा उपयोग कर एक बड़ा निबन्ध लिख डालूँ। उससे उत्साहित होकर मैंने अपने नोट्स का अधिक उपयोग करके एक बड़ा निबन्ध तैयार कर लिया और वही निबन्ध आपके सामने प्रस्तुत है। यदि मैं चाहता तो यह निबन्ध आकार में दुगुना-तिगुना भी किया जा सकता था, किन्तु मैंने अपनी लेखनी के ऊपर संयम रखा

और उसे एक सीमा से आगे नहीं बढ़ने दिया।

मैं आपसे निवेदन कर चुका हूँ कि मैंने हिन्दी का अध्ययन नहीं किया, किन्तु एक बात में मैं आपमें से अधिकांश लोगों से अधिक सौभाग्यशाली हूँ। मेरे पूज्य पिता हिन्दी साहित्य में रुचि लेते थे—यद्यपि साहित्य की अपेक्षा धार्मिक विषयों में उनकी रुचि अधिक थी। वे हिन्दी के लेखक भी थे। उन्होंने श्री राघवेन्द्र और श्री यादवेन्द्र नामक मासिक पत्रों का कई वर्ष सम्पादन भी किया, अनेक पुस्तकें लिखीं। इस कारण हमारे यहाँ प्रयाग में उस समय के सभी साहित्यिकों का आना जाना होता था। अतएव बचपन ही में मुझे उस समय के साहित्यिक महारथियों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पं० बालकृष्ण भट्ट, अमृतलाल चक्रवर्ती, लज्जाराम मेहता, किशोरीलाल गोस्वामी, माधवप्रसाद मिश्र, राधाकृष्ण मिश्र, चन्द्रधर गुलेरी, बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, सकल नारायण शर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त, गिरिधरशर्मा नवरत्न, रत्नाकर जी, श्रीधर पाठक, जगन्नाथ राजवैद्य, जगन्नाथप्रसाद शुक्ल, भगवान दास हालना, गिरिजाकुमार घोष, माधवराव सप्रे, श्यामसुन्दर दास, शिवकुमार सिंह, गदाधर सिंह, 'प्रेमघन', महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्दनारायण मिश्र, लाला सीताराम, शिवचंद भरतिया, आदि अनेक विभूतियों के दर्शन हुए और उनकी छवि स्मृति पटल पर आज भी अंकित है। उन दिनों राजर्षि टंडन, लक्ष्मीनारायण नागर, आदि स्थानीय हिन्दी कार्यकर्त्ता तो बहुधा घर पर आते ही रहते थे। उस समय मैंने युवक मैथिलीशरण गुप्त के भी दर्शन किये। तब वे लाल पगड़ी बाँधते थे और उनकी वह छवि आज तक विस्मृत नहीं हुई। बाद में मेरा परिचय छायावादी और परवर्ती साहित्यकारों से हुआ, जिनमें से अनेक से मेरी मैत्री और घनिष्टता रही, जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रसादजी, निरालाजी, हितैषीजी, अनूपजी, हरिऔध जी, केशव प्रसादजी मिश्र, मन्नन द्विवेदी गजपुरी, रसिकेन्द्र-जी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', वेंकटेशनारायण तिवारी, हरिशंकर शर्मा, गुलाबराय आदि। बहुतों से मैं बहुत निकट आ गया।

इनमें से अनेक मित्र यहाँ तक कि रामचंद्र शुक्ल ऐसे यात्राभीरु भी मुझे आतिथ्य सत्कार करने का गौरव देते थे। प्रसादजी का अन्तिम कामायनी का पाठ मेरे ही स्थान पर लखनऊ में हुआ। वहाँसे लौटते ही वे शय्याशायी हो गये और फिर उस पर से न उठे। पंडित श्रीधर पाठक की वृद्धावस्था में मैं उनका बड़ा कृपापात्र हो गया था। इन सभी मनीषियों के सम्पर्क के कारण मुझे साहित्यिक गतिविधियों की उड़ती और सतही जानकारी प्राप्त होती रही, किन्तु मुझे कभी हिन्दी साहित्य या उसके साहित्य के अध्ययन की न तो रुचि हुई और न अवसर ही मिला और न उसकी गतिविधियों के अध्ययन की ओर ध्यान गया, और न उसके लिये समय ही मिला।

हिन्दी में एक मुहाविरा चलता है—'कुछ पढ़े गुने भी हो ?' अर्थात् पढ़ना एक वस्तु है, और गुनना उससे भिन्न दूसरी वस्तु है। यह गुनना क्या है ? संस्कृत का एक प्रसिद्ध श्लोक है :

देशाटनं पंडितमित्रता च वारांगना राजसभाप्रवेश:
अनेक शास्त्रार्थविलोकनं च चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच।

केवल अध्ययन अर्थात् पढ़ना ही पर्याप्त नहीं है। वह आवश्यक है, किन्तु 'गुनने' के बिना केवल पढ़ाई करने या किताबी कीड़े बने रह जाने ही से काम नहीं चल सकता। 'गुनने' को इस श्लोक में 'चातुर्य' कहा गया है—यद्यपि 'गुन' का शुद्ध रूप गुण है। देशाटन, पंडितों की मित्रता, राजसभा अर्थात् आजकल मिनिस्टरों, विधायकों व्यूरोक्रैसी और विभिन्न उच्च अधिकारियों की दरबारदारी, शास्त्रार्थ अर्थात् परिचर्चा, गोष्ठियों आदि में भाग लेना या विद्वानों के प्रवचनों को सुनना 'गुनने' के साधन हैं। वारांगना के सम्बन्ध में आजकल कुछ कहना व्यर्थ है। वसन्तसेनाओं और आम्रपालियों का युग समाप्त हो गया है और उनकी उत्तराधिकारिणियाँ कानून और सोशल-रिफार्मरों के भय से भूगर्भित हो गयी हैं। किन्तु अब उनका शैक्षणिक कार्य 'सोसायटी लेडीज़' और आधुनिक फ़ारवर्ड महिलाएँ

बखूबी कर सकती हैं। आपमें से अधिकाँश 'पढ़े गुने' हैं, आप दोनों पैरों से ज्ञान की सरणी पर सरपट बढ़ सकते हैं। किन्तु जो केवल पढ़े हैं, गुने नहीं, या केवल 'गुने' हैं, पढ़ नहीं, ये दोनों लंगड़े हैं। मैं एक तृतीय श्रेणी में हूँ—पढ़ा नहीं, केवल कुछ सीमा तक 'गुना' अवश्य हूँ। उक्त श्लोक में वर्णित पांचों का साधन प्राप्त न होने से मेरा 'गुनना' भी आंशिक हो पाया है। केवल पंडितों की मित्रता और कुछ पुराने पंडितों के विद्या-विलास की क्षीण स्मृति ही शेष रह गयी है। वह सुयोग मुझे कैसे मिला, यह बता चुका हूँ। अतएव मैं लंगड़ों से भी बदतर हूँ। किन्तु गुनने से जो कुछ समझ पाया हूँ उसे ही अपने सामने रखने की अनुमति आपने मुझे दी है। बहुत पढ़े-गुने विद्वानों के अनेक विद्वत्तापूर्ण विचारोत्तेजक और गंभीर भाषण सुनवाने के बाद श्री बालकृष्ण राव ने शायद आपका 'मजा मुँह का बदलने के लिए' मेरे ऐसे व्यक्ति को 'हलका-फुलका' और चलता भाषण देने को निमंत्रित कर दिया है।

सेवा-निवृत्त होकर जब मुझे स्वान्तः सुखाय कुछ पढ़ने का अवसर मिला तब मुझे अपनी त्रुटिपूर्ण शिक्षा पर खेद हुआ—विशेषकर इस बात का कि न तो मैंने संस्कृत पढ़ी और न अपनी मातृभाषा के साहित्य और उसके इतिहास का ही अध्ययन किया। अतएव जो कुछ मैं आपके सामने निवेदन करने जा रहा हूँ, वह हिन्दी में रुचि लेने वाले एक सामान्य और तटस्थ पाठक के विशृंखल विचार मात्र हैं, और आशा है कि आप उन्हें ऐसा ही समझ कर सहानुभूतिपूर्वक सुनेंगे, और यदि मैं कोई ऐसी बात कहूँ जो आपके अध्ययन और विद्वत्ता की कसौटी पर ठीक न उतरे तो मेरे अज्ञान को क्षमा करेंगे।

आरम्भ ही में मैं स्पष्टीकरण के रूप में दो बात कह देना चाहता हूँ। पहिली तो यह कि यह भाषण है, निबन्ध नहीं है। न मुझमें इतनी सामर्थ्य है कि बड़े-बड़े पुस्तकालयों में जाकर अध्ययन कर सकूँ, और न मुझमें बड़े-बड़े डाक्टर-प्रोफेसरों के चरणों

में बैठ कर ज्ञानार्जन करने का समय या उत्साह है। अतएव इसमें वे ही बातें कही गयी हैं जो मेरी सीमित जानकारी में हैं। जो उद्धरण आदि दिये गये हैं वे मेरे पूज्य पिताजी के और स्वयं मेरे निजी संग्रहों में से हैं। सौभाग्य से पिताजी के संग्रह में अनेक पुरानी छपी हुई पुस्तकें तथा अनेक पत्रिकाओं की फाइलों का संग्रह है, जैसे, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, पीयूषप्रवाह, सुदर्शन, धर्मदिवाकर, समालोचक, वैश्योपकारक आदि। अनेक पुराने और अब अज्ञात लेखकों की कृतियाँ भी हैं। मैंने भी इनमें कुछ पुरानी पुस्तकों को जोड़ा। बहुत सी बातों की मुझे व्यक्तिगत जानकारी है। दूसरी बात जो कहनी है वह यह है कि इस भाषण में १८५७ से १९०८ तक की प्रगति और गतिविधियों का वर्णन किया गया है। १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के बाद से मेरी समझ से हिन्दी का आधुनिक काल आरम्भ होता है। यद्यपि द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन १९०२ से आरम्भ किया था, तथापि उन्हें हिन्दी संसार में जमने और प्रभावशाली होने में ५, ६ वर्ष लगे। मैं तथाकथित द्विवेदीयुग का आरम्भ १९०८ से मानता हूँ। स्वतंत्रता संग्राम से लेकर द्विवेदी युग के आरम्भ तक की अवधि में आधुनिक हिन्दी साहित्य और भाषा का विकास होता रहा। द्विवेदी युग के आरम्भ होते होते उसका रूप निश्चित हो गया था, और उसके बाद जो नयी-नयी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न और विकसित हुईं वे हिन्दी के उस विकास के कारण संभव हो सकीं। आधुनिक हिन्दी के विकास और उसके रूप निर्धारण का कार्य द्विवेदी युग तक पूर्ण हो चुका था।

मेरे लिए एक कठिनाई उत्पन्न हो गयी है। मुझसे तीन भाषणों के लिए कहा गया था, किंतु समयाभाव के कारण अब दो ही भाषण होंगे। मैं यह भाषण दुगने-तिगुने आकार में लिख सकता था क्योंकि कहने को बहुत सी बातें हैं। मैंने भरसक संक्षिप्त होने का प्रयास किया है। इसके तीन खंड हैं: गद्य, ब्रजभाषा पद्य और खड़ी बोली पद्य। इस संक्षिप्त वक्तव्य के बाद मैं अपने विचार आपके सामने रख रहा हूँ।

पूर्व पीठिका

यद्यपि आधुनिक हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली गद्य में सीमित साहित्य निर्माण स्वतंत्रता संग्राम के पहले से आरम्भ हो गया था, तथापि आधुनिक हिन्दी का वास्तविक उदय हिन्दू पुनर्जागरण के साथ हुआ। मैं जानबूझ कर यहाँ 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, यद्यपि सामान्यतः मैं 'भारतीय पुनर्जागरण' का प्रयोग करता हूँ। यह पुनर्जागरण उत्तर भारत में हुआ। इस पुनर्जागरण के बारे में मैं यथास्थान अपने विचार आपके सामने रखूँगा। किन्तु पुनर्जागरण की पूर्वपीठिका जानना आवश्यक है। तभी हम उसका यथार्थ महत्व समझ सकेंगे।

उत्तर भारत प्रायः एक हज़ार वर्ष विदेशियों के अधिकार में रहा। वे विदेशी एक ऐसे धर्म और संस्कृति को लेकर आये थे जो यहाँके धर्म और संस्कृति से बिल्कुल भिन्न थी। यहाँ का धर्म (जिसे अब सामूहिक रूप से सुविधा के लिए हिन्दू धर्म कहते हैं, यद्यपि मैं स्वयं उसे 'भारतीय संस्कृति से उत्पन्न धर्म' कहना पसन्द करता हूँ) विचारों में बड़ी छूट देता है। हमारे यहाँ जो ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं रखते, वे भी हिन्दू माने जाते हैं। कुछ ईश्वर को निराकार मानते हैं, और कुछ साकार। दोनों ही हिन्दू हैं। हम लोग तो तथाकथित नास्तिक दर्शन मानने वाले बौद्ध और जैनियों को भी हिन्दू समाज में स्थान देते हैं क्योंकि वे भी भारतीय धर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। कहा भी है:

यं शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाण पटवः कर्तेति नैयायिका।

अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता, कर्मेति मीमांसिका,
सोयं वो विदधातु वांछित फलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।

कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता है कि उसमें सदैव ही विचारों की स्वतंत्रता रही है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी रुचि के अनुसार विश्वास करने की छूट रही है। किन्तु सामी या सैमिटिक लोगों ने जो धर्म चलाये उनमें विचार स्वातंत्र्य नहीं था। वे धर्म यहूदी, ईसाई और इस्लाम हैं। उदाहरण के लिए, ईसाई धर्म के लिए यह मानना आवश्यक है कि खुदा एक है, हज़रत ईसा मसीह उसके एक मात्र पुत्र हैं और उन्हींके द्वारा मुक्ति मिल सकती है। जो इन बातों को नहीं मानते वे ईसाई नहीं हैं। इसी प्रकार इस्लाम में यह मानना आवश्यक है कि खुदा एक है, हज़रत मोहम्मद उसके पैग़म्बर हैं और क़ुरान शरीफ ईश्वर प्रेरित पुस्तक है। जो इन बातों पर विश्वास नहीं करता वह मुसलमान नहीं है। चूंकि ये लोग अपने ही धर्म को एक मात्र सत्य धर्म मानते हैं, वे अपनी दृष्टि से अन्य धर्म के लोगों को सही मार्ग पर लाने और उनकी 'रूहों' के कल्याण के लिए उन्हें अपने धर्म में लाने का प्रयत्न करते हैं। कहीं-कहीं यह मत परिवर्तन प्रचार और उपदेश द्वारा होता था जैसे मुसलमान सूफी संतों द्वारा या ईसाई प्रचारकों द्वारा, और कहीं-कहीं बल प्रयोग के द्वारा जैसे गोआ आदि में रोमन कैथलिकों द्वारा या अनेक देशों में मुसलमानों द्वारा बलपूर्वक धर्म परिवर्तन कराया गया। मुसलमान राज्यों में अपने धार्मिक ग्रंथों के अनुसार इस्लामी राज्य में रहने वाले अन्य धर्म के लोगों पर विशेष कर लगाने, तथा उन्हें कुछ ऐसे काम करने से रोकने का प्रयत्न किया जाता था जिन्हें इस्लाम ठीक नहीं समझता, जैसे मूर्ति पूजा। जिन छोटे देशों---पैलेस्टाइन, मिस्र, ईरान, अफगानिस्तान आदि में इस्लाम की सेनाएँ गयीं, वहाँ उन्होंने वहाँके संख्या में थोड़े निवासियों को मुसलमान बना दिया। कहीं-कहीं से वहाँके पुराने धर्म के थोड़े से लोग भाग निकले। अनेक यहूदी योरप के देशों में भाग गये। ईरान से वहाँके पुराने अग्निपूजक धर्म को मानने वाले कुछ पारसी लोगों ने भारत में आकर

शरण ली। किन्तु भारत इतना विशाल देश था, और यहाँ मुसलमानों का इतना विरोध हुआ कि वे सारे देश को मुसलमान नहीं बना सके। इसीको लक्ष्य कर एक प्रसिद्ध मुसलमान कवि ने कहा था :

दीन इस्लाम का बेबाक बेड़ा जो
कुलजम में ठहरा न काबुल में अटका,
किये पार थे जिसने सातों समुन्दर,
वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।

यद्यपि वे सारे देश को मुसलमान नहीं बना सके, तथापि उन्होंने यहाँ प्रायः एक हजार वर्ष राज्य किया, और वह राज्य अधिकतर उन शासकों द्वारा होता था जो काज़ियों और मुल्लाओं से सलाह लेकर इस्लामी शरीअत के अनुसार राज्य करते थे। उन्हें राज्य के अन्य नागरिकों के अधिकारों का कोई ज्ञान भी न था। शासक प्रायः निरंकुश होते थे। उनकी आज्ञा कानून थी। जहाँ शासक अर्थात् सुलतान या बादशाह सीधे शासन नहीं करता था, वहाँ उसके द्वारा नियुक्त सामन्त, सेनाध्यक्ष या सूबेदार उसीके नाम पर शासन करते थे, और वे भी निरंकुश होते थे क्योंकि उनके मार्ग दर्शन के लिये न तो कोई 'संविधान' था और न लिखित दंड संहिता जो सब नागरिकों पर समान रूप से लागू होती। हिन्दू प्रजा की जान, माल और इज्जत निरंकुश शासक की मर्जी पर थी। उनके देवालय उन्हींके सामने नष्ट किये जाते थे, उनके धर्म की अवमानना उन्हीं-के सामने की जाती थी, उनकी स्त्रियों को उन्हींके सामने अपहरण कर लिया जाता था, उनके पुस्तकालय जला दिये जाते थे। उत्तर मुस्लिम काल में यह निरंकुशता 'नवाबी' कही जाने लगी थी। उस दीर्घ काल में हिन्दुओं के सामने केवल एक समस्या थी कि वह अपना अस्तित्व कैसे बनाये रखें। अवश्य ही कुछ हिन्दू अपनी योग्यता या चतुरता के कारण सरकारी पद पा जाते थे, और राजनीतिक सुविधा के लिए कुछ हिन्दू सामन्त भी सेना में बड़े पद पा जाते या सूबेदार हो जाते। पर उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम ही होती थी। सामान्य हिन्दू जनता पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ता था। उनके भाग्य से

यदि अकबर की तरह कोई उदारमना शासक आ गया तो उन्हें कुछ राहत मिल जाती थी और यदि कोई कट्टर या क्रूर व्यक्ति शासक होता तो वे दमन की चक्की में पिसने लगते। यही नियम स्थानीय शासकों पर भी लागू होता था।

दीर्घकालीन मुस्लिम राज्य में हिन्दुओं और मुसलमानों में कुछ ऐसे लोग हुए जिन्होंने इन दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। किन्तु कुछ व्यक्तियों के प्रयत्न ऐसे काम नहीं कर सकते। यह तभी संभव है जब दोनों वर्गों में सहअस्तित्व की भावना और एक दूसरे के विश्वासों का यदि आदर करने की नहीं, तो कम से कम सहन करने की इच्छा हो। किन्तु उस युग के शासक वर्ग में इस सहिष्णुता का नाम भी न था। यहाँ केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा। ख्वाजा निज़ामुद्दीन अहमद ने 'तबकाते अकबरी' नामक प्रसिद्ध इतिहास लिखा है। मुस्लिम लेखकों के लिखे भारत संबंधी इतिहासों के हिन्दी अनुवाद डा० सैय्यद अतहर हुसेन रिज़वी ने हिन्दी में किये हैं और वे अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के हिस्ट्री डिपार्टमेंट के द्वारा प्रकाशित हुए हैं। उनके एक भाग का नाम "उत्तर तैमूर कालीन भारत, भाग १" है। उसमें अन्य मुस्लिम इतिहासकारों की कृतियों के अनुवाद के साथ तबकाते अकबरी का भी अनुवाद छपा है। इस पुस्तक के पृष्ठ २१७ पर यह घटना छपी है, जिसे मैं यहाँ अविकल उद्धृत कर रहा हूँ :

"कहा जाता है कि कानीर नामक ग्राम के लोधन नामक जुन्नारदार ने कुछ मुसलमानों के समक्ष यह बात स्वीकार की कि 'इस्लाम सत्य है और मेरा धर्म भी सत्य है।' यह बात आलिमों के कान में पहुँच गयी। काज़ी प्यारा और शेख बुद्धू ने जो लखनौती में थे, एक दूसरे के विरुद्ध फ़तवे दिये। उस विलायत के हाकिम आज़िम हुमायूँ ने उस जुन्नारदार को काज़ी प्यारा और शेख बुद्धू के साथ सुल्तान के पास संभल भेज दिया क्योंकि सुल्तान की इन्हीं समस्याओं पर वाद-विवाद करने की ओर रुचि थी। अतः उसने प्रत्येक दिशा से प्रतिष्ठित आलिमों को बुलवाया। मियाँ कादन बिन शेख

खुजू, मियाँ असदुल्लाह बिन अलहदाद तदुम्बी, सैय्यद मुहम्मद बिन सईद खाँ देहली से, मुल्ला कुतुबुद्दीन, मुल्ला अलहदाद तथा सालेह सरहिन्द से, सैय्यद अमान तथा मीरान सैय्यद अरूखन कन्नौज से आये। बहुत से आलिम जो सुल्तान के साथ सर्वदा रहते थे, उदाहरणार्थ सैयिद सुदुद्दीन कन्नौजी, मियाँ अब्दुर्रहमान सीकरी निवासी तथा मियाँ अताउल्लाह संभली भी वाद-विवाद में उपस्थित हुए। आलिमों ने यह बात निश्चित की कि उसे (लोधन को) बंदीगृह में डाल कर इस्लाम की शिक्षा दी जाय, यदि वह इस्लाम स्वीकार न करे तो उसकी हत्या कर दी जाय। लोधन ने इस्लाम स्वीकार न किया और उसकी हत्या कर दी गयी। सुल्तान ने उपर्युक्त आलिमों को इनाम देकर उनके स्थानों पर उन्हें भेज दिया।"

इस एक घटना से आप लोग उस समय के शासक वर्ग की असहिष्णुता का अनुमान लगा सकते हैं। इस असहिष्णुता को दूर करने और मुसलमानों तथा हिन्दुओं को निकट लाने और उनमें सौमनस्थ उत्पन्न करने के लिए नानक, कबीर आदि ने बड़े प्रयत्न किए। ये प्रयत्न करने वाले अधिकतर हिन्दू ही थे। इनके कुछ अनुयायी भी हो गये। इनमें दोनों वर्गों के लोग थे, किन्तु शासक वर्ग के लोगों की संख्या अत्यल्प थी। इनके प्रयत्नों से कुछ सामाजिक सुधार भी हुआ, कुछ अच्छे परिणाम भी निकले, किन्तु अपने मुख्य उद्देश्य---हिन्दू और मुसलमानों को निकट लाने में----वे पूर्णतया असफल रहे। अंग्रेज़ों के आने तक प्रायः यही अवस्था रही। अकबर में इस उदारता की मात्रा बहुत अधिक थी और उसने हिन्दू और मुसलमानों को समान दृष्टि से देखने और उनके साथ समान व्यवहार करने का हृदय से प्रयत्न किया। उसने ग़ैरमुसलमानों पर लगाया जानेवाला जज़िया कर हटा दिया तथा हिन्दुओं के मंदिरों आदि को भी नष्ट नहीं किया। किन्तु उसके बाद उसकी नीति का पालन नहीं हुआ। मुस्लिम सामन्त और उच्च वर्ग में भी दारा शिकोह, खानखाना आदि कुछ अपवाद----जो अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं---हमें मिलते हैं। किन्तु हिन्दुओं के प्रति शासक वर्ग की मानसिकता में

कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। हम अपने ही समय के अंग्रेज़ी काल के दो बड़े मुसलमान जमींदारों के सम्बन्ध में जानते हैं। इनमें से एक शिया थे और दूसरे सुन्नी। दोनों ही बड़े प्रभावशाली जमींदार थे। शिया जमींदार के कस्बे में मोहर्रम के चालीस दिनों में कोई हिन्दू उत्सव नहीं मना सकता था, यहाँ तक कि लड़का पैदा होने पर घर में ढोलक तक नहीं बजायी जा सकती थी। दूसरे जमींदार के गाँव में शंख का बजाना और हिन्दुओं को पक्के मकानों का बनाना वर्जित था। अंग्रेज़ी राज्य में---इस शती के प्रायः मध्य तक---जब उनकी निरंकुश शक्ति बहुत कम हो गयी थी, यह दशा थी तब नवाबी में क्या दशा रही होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है।

उत्तर भारत में जब अंग्रेज़ों का राज्य हुआ तो उन्होंने सभी नागरिकों के लिए समान कानून बनाये। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय ही में कानूनप्रिय अंग्रेज़ों ने भारत में निरंकुश शासन को समाप्त करने के लिए अदालतें स्थापित कीं और कुछ दिनों उनमें इंग्लैण्ड से आये जज ब्रिटिश कानूनों से पथप्रदर्शन लेने लगे। महाराज नन्दकुमार का प्रसिद्ध मुकदमा इसी प्रकार हुआ था। किन्तु उन्होंने शीघ्र ही अनुभव किया कि भारत के लिये अलग कानून बनाने चाहिए। मैकाले आदि को यह काम सौंपा गया और कहा जाता है कि 'कोड नैपोलियन' के आदर्श पर उन्होंने भारतीय दंड संहिता (इण्डियन पीनल कोड) बनायी जो बहुत ही अल्प परिवर्तनों के साथ आज भी लागू है। यह इण्डियन पीनल कोड हिन्दू और मुसलमानों पर समान रूप से लागू किया गया। प्रायः एक हजार वर्षों के बाद हिन्दुओं को नागरिक अधिकार (सिविल राइट्स) मिले। हिन्दू नागरिकों ने अनुभव किया कि कानून के समक्ष अब वे और मुसलमान बराबर हैं। एक हजार वर्ष के बाद उन्हें अपने नागरिक अधिकारों का बोध हुआ। उनमें आत्मसम्मान की भावना उत्पन्न हुई, और उन्होने देखा कि अब उनकी जान, उनका माल, उनकी इज्जत, उनकी माँ-बहिनों की प्रतिष्ठा सुरक्षित हैं। उन्होने नवाबी और उसके निरंकुश शासन के अत्याचार सहे थे। अंग्रेज़ों ने

आकर उन्हें पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त मुसलमान नागरिकों के स्तर पर ला दिया। प्रायः एक हजार वर्ष से पददलित, कानून की सुरक्षा से वंचित, निरंकुश शासकों से पीड़ित और नवाबी से त्रस्त हिन्दुओं पर इसका जो नैतिक और मानसिक प्रभाव पड़ा, उसकी आज कल्पना करना भी कठिन है। वे उत्तर भारत में स्वयं अपने को उनके शिकंजे से बचाने में असमर्थ थे। इतनी शतियों बाद उन्हें अपने ही देश में पूर्ण नागरिक अधिकार देने, और नवाबी के अत्याचारों से बचाने तथा कानून की दृष्टि में विशेषाधिकार प्राप्त मुसलमान नागरिकों के समान स्तर पर लाने का कारण उन्होंने अंग्रेज़ों को समझा। अतएव उस समय की नवाबी से पीड़ित हिन्दू पीढ़ी को अंग्रेज़ 'उद्धारक' के रूप में दीख पड़े। उन्होंने अंग्रेज़ों को जिस प्रकार अपने उद्धारक के रूप में देखा था, उसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि भारतेन्दु ऐसे देश-भक्त लोगों में भी अंग्रेज़ों के प्रति हार्दिक 'राजभक्ति' थी। उन्होंने महारानी विक्टोरिया के पौत्र प्रिंस फ्रेडरिक के भारत आगमन पर जो स्वागत की कविता लिखी थी उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा था:

> "दुष्ट नृपति बल दल दली दीना भारत भूमि,
> लहि है आज अनन्द अति तुव पद पंकज चूमि।
> सांचहु भारत में बढ़्यो अचरज सहित अनन्द
> निरखत पश्चिम में उदित आजु अपूरब चन्द।
> जैसे आतप-तपित कों छाया सुखद गुनात,
> जवन राज के अन्त तुव आगम तिमि दरसात।
> मसजिद लखि बिसनाथ ढिग परे हिए जो घाव
> ता कहं मरहम सदृस है तुव दरसन नरराव।।"

भारतेन्दु और उनके समकालीन हिन्दी लेखकों द्वारा अंग्रेज़ों की प्रशंसा अमन-सभाई भावना का परिणाम न थी। वे नवाबी को भुगते हुए थे। उन्हें उसके अत्याचारों और उसके द्वारा अपनी जाति

की दुर्दशा की याद थी। इसीलिये उनकी की हुई अंग्रेज़ों की प्रशंसा बाद के अमन-सभाई और स्वार्थी लोगों की खुशामद न थी। वह उनका इस बात का कृतज्ञता-ज्ञापन था कि अंग्रेज़ों ने उन्हें मुसलमानों के बराबर नागरिक अधिकार दिये तथा अपना धर्म पालन करने और अपने ढंग से अपना जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता दी।

मुस्लिम काल में हिन्दू-भारत एक बन्द कोठरी की तरह था। यहाँके बहुसंख्यक निवासी हिन्दुओं का सम्पर्क भारत से बाहर के देशों से न रह गया था----यद्यपि मुसलमान शासकों का संबंध तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान, बुख़ारा आदि मध्यपूर्व के देशों से बराबर बना रहा, और वहाँके अनेक सैनिक, सौदागर और अरबी-फ़ारसी के विद्वान और मुल्ला इस देश में आते रहे और यहाँके मुसलमान शासक उन विदेशियों को उच्च प्रशासकीय और सैनिक पदों पर नियुक्त करते, और तरह-तरह से उनका प्रोत्साहन और संरक्षण करते रहे। तुर्की के परोक्ष संबंध के कारण उनको योरप की गतिविधियों की भी जानकारी हो जाती थी। किन्तु हिन्दुओं में कई शतियों तक संसार की गतिविधियों से कटे रहने, बिलगाव और एकाकीपन के कारण, तथा अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये सतत संघर्ष करते रहने और दबे रहने के कारण, विचारों की संकुचितता आ जाना स्वाभाविक था। उसके परिणामस्वरूप उनमें कितनी ही सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हो गयी थीं। किन्तु उनमें से कुछ वे बातें, जिन्हें हम आज बुराइयाँ समझते हैं, उस समय उन्हें अपना आत्म सम्मान और अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए आवश्यक मालूम हुईं। भारत में पहले पर्दा प्रथा न थी, किन्तु उस समय की परिस्थिति में उन्होंने स्त्रियों को पर्दे में रखना आवश्यक समझा। अपना मनोबल बनाये रखने और अपने में हीनता की भावना रोकने के लिए उन्होंने सोचा कि इन विदेशियों ने हमें सैनिक बल से जीत अवश्य लिया है, किन्तु संस्कृति और आचार में वे हमसे बहुत नीचे हैं। वे इतने अपवित्र हैं कि उनका छुआ जल भी ग्रहण

करना हमारे लिए उचित नहीं। यहाँ तक कि इन बातों की आते हो गयी। उन्होंने यह भी देखा कि इन सुरक्षा के लिए किए गये उपायों का—जो मानवता की दृष्टि से अनुचित थे—उन्हींके वर्ग के कुछ लोग विरोध कर रहे हैं और वे तरह-तरह के नये-नये मत चला कर हिन्दुओं को और विभाजित तथा कमज़ोर कर रहे हैं। उन्होंने यह भी देखा कि हिन्दू-मुसलमानों को निकट लाने वालों के प्रयत्नों का प्रभाव शासक जाति पर नहीं पड़ता, किन्तु उनसे हिन्दू समाज विभाजित होता जा रहा है। तुलसीदास ने रामायण में इन लोगों का वर्णन किया है और उनका विरोध भी किया है। एक हजार वर्ष की एकान्तता, संगठनहीनता, राज्य के विरोध, अनेक सूफ़ियों के प्रच्छन्न इस्लामी प्रचार, दहरियों की पूजा, पीरों की पूजा, ताज़ियादारी, दरबारों की विलासिता का सामन्तों और धनिकों द्वारा अनुकरण, फ़ारसी के दरबारी कवियों की प्रतिस्पर्धा में दरबारों में रहने वाले हिन्दी कवियों की शृङ्गारिक कविता आदि ने मिल कर हिन्दू-समाज को अवनति के गर्त में पहुँचा दिया था। भक्ति आन्दोलन ने, विशेष कर तुलसीदास की रामायण ने, उस अन्धकार में पड़े निराशा से पीड़ित दिशाहीन और नेताहीन हिन्दुओं को कुछ ढाढ़स दिया, आशा के प्रकाश की कुछ ज्योति दी और अन्त में सत्य और धर्म की विजय होने का आश्वासन और विश्वास दिया। जो हिन्दू समाज विशृंखलित हो चुका था, जिसमें हीनता की भावना उत्पन्न हो गयी थी, जिसका मनोबल गिर गया था और आत्मविश्वास नष्टप्राय हो चुका था, उसे सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने इस स्थिति में अधिक गिरने से बचाया ही नहीं, उनमें नवजीवन का संचार भी किया।

अंग्रेज़ों के आने पर इसमें परिवर्तन हुआ। जैसा कि हम पहिले कह चुके हैं, हिन्दुओं को एक हज़ार वर्ष बाद पूरे नागरिक अधिकार मिले और कानून की निगाह में वे मुसलमानों के समकक्ष हो गये। इससे उनमें आत्मसम्मान की भावना उत्पन्न हुई और साथ ही अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने के कारण उनका एकाकीपन और संसार

से कटाव (isolation) भी दूर हो गया। अंग्रेज़ों ने उन्हें संकुचित फ़ारसी से मुक्त कर अंग्रेज़ी पढ़ायी जिससे उनका सम्पर्क और परिचय संसार के विशाल क्षेत्र और पश्चिम की आश्चर्यजनक भौतिक उन्नति से हुआ। शतियों तक अज्ञानाधंकार में रहने के कारण सहसा इस नवीन ज्ञान के प्रखर प्रकाश से उनकी आँखें चौंधियाँ गयीं। देश की लम्बी पराधीनता में उनका नैतिक अध:पतन होना स्वाभाविक था। निरंकुश शासन में, विशेषकर मध्ययुग में जब एशिया के शासक राज्य की आय को प्राय: अपनी निजी आय समझते थे और जब प्रजा की कौन कहे शासकों को भी संसार की भौतिक, मानसिक, सांस्कृतिक उन्नति का ज्ञान भी न था तथा प्रजा के प्रति उन्हें अपने कर्त्तव्यों की कल्पना भी न थी, तब देश में दरिद्रता और नैतिक ह्रास अनिवार्य था। आरम्भ में अंग्रेज़ यहाँ व्यापार करने आये थे किंतु विधि के अनोखे विधान से वे व्यापारी यहाँके शासक हो गये। किन्तु व्यापारिक लाभ फिर भी उनका ध्येय बना रहा, और उन्होंने यहाँके अनेक कला-कौशल अपने स्वार्थ के लिये नष्ट कर दिये। मुस्लिम काल में प्रजा का शोषण होता था किन्तु शासक उस धन को अधिकतर देश में ही रखते थे और पारम्परिक उद्यम एवं कला-कौशल अपने ढर्रे पर चले जाते थे। शासक भी कारीगरों को प्रोत्साहन देते थे और वे कला-कौशल जीवित रहते थे। कलाकारों और कारीगरों में बेकारी न थी। अंग्रेज़ व्यापारी देश का शोषण करके यहाँके धन को विलायत ले जाते थे और योरप के मशीन से बने सामान के सामने जो उद्यम ठहर सकते थे, उन्हें जानबूझ कर नष्ट किया गया। इस प्रकार देश की दरिद्रता और भी बढ़ने लगी। इसीलिए भारतेन्दु ऐसे अंग्रेज़-प्रेमी व्यक्तियों को भी कहना पड़ा :

> अंग्रेज़ राज सुख साज सबै विधि भारी,
> पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी।

अंग्रेज़ों ने अपना राज्य आरम्भ होने पर कुछ तो अपने शासन की सुविधा के लिए और कुछ इस देश के तथाकथित अज्ञान को दूर कर उसे पश्चिम के "सच्चे" ज्ञान को देने के लिए, यहाँ

अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया। उनमें से अनेक का विचार था कि यहाँके लोगों का उद्धार तभी हो सकता है जब यहाँके लोग ईसाई बना दिये जाँय, और यहाँकी पुरानी (classical) भाषाएँ समाप्त कर उन्हें अंग्रेज़ी के द्वारा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाय। सन् १७९२ में सर चार्ल्स ग्रान्ट ने पार्लियामेंट को एक लम्बा ज्ञापन दिया था जिसमें उन्होंने इन दोनों बातों के लिए आग्रह किया था। उनके प्रस्ताव में ईसाई धर्म के प्रचार का प्रस्ताव तो बिल्कुल ही नहीं माना गया किन्तु कुछ वर्षों बाद शिक्षा के लिए प्रतीक रूप में कुछ रुपया स्वीकृत किया गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी शिक्षा पर कुछ रुपया व्यय करने लगी। उस समय प्रश्न उठा कि किस भाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा दी जाय। एक वर्ग जो 'ओरन्टियलिस्ट' कहलाता था, संस्कृत और फ़ारसी के माध्यम से उच्च शिक्षा देने का पक्षपाती था, और दूसरे वर्ग के लोग जो 'ऐंग्लिसिस्ट' कहे जाते थे, उसके लिये अंग्रेज़ी के माध्यम की वकालत करते थे। अन्त में ऐंग्लिसिस्टों की विजय हुई जिसका श्रेय मैकाले को दिया जाता है। यहाँ जो बात उल्लेखनीय है वह यह है कि उच्च शिक्षा के माध्यम के लिये विकल्प संस्कृत और फ़ारसी तथा अंग्रेज़ी थी, जनता की भाषाएँ हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती आदि नहीं। उस समय देशी भाषाओं की ओर किसी का ध्यान ही नहीं था। अतएव उच्च शिक्षा अंग्रेज़ी के माध्यम से दी जाने लगी और धीरे धीरे वह माध्यमिक शिक्षा का भी माध्यम बन गयी। यहाँ तक कि अंत में प्राइमरी की तीसरी कक्षा से ही वह शिक्षा का माध्यम हो गयी। मेरे विद्यार्थी जीवन में तीसरी कक्षा से ही एंग्लो वर्नाक्यूलर स्कूलों में अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। मैं उसी प्रणाली की उपज हूँ। देशी भाषाओं में शिक्षा देने वाले छोटे स्कूल (जो मुख्यतः गाँवों में थे) 'वर्नाक्यूलर स्कूल' कहलाते थे और हीन दृष्टि से देखे जाते थे। हम लोग उनमें पढ़े लोगों को 'मिडिलची' कहते थे और उनकी अवज्ञा करते थे। भारतवासियों ने बड़े उत्साह और गम्भीरता से अंग्रेज़ी पढ़ना आरम्भ किया, और जिस प्रकार मछली पानी में सहज भाव से तैरने लगती है, उसी प्रकार हमने भी अंग्रेज़ी

ग्रहण कर ली। थोड़े ही दिनों में, प्रायः ५०, ६० वर्षों में, सारे भारत में अंग्रेज़ी उच्च राजकाज ही नहीं, शिक्षा संस्थानों में भी पूरी तरह फैल गयी थी। उसका प्रसार सारे भारत में उसी प्रकार हो गया जिस प्रकार मुग़ल काल में फ़ारसी फैल गयी थी। और जिस प्रकार मुग़ल काल समाप्त होने के प्रायः ७०, ८० वर्ष बाद भी यहाँके लोग फ़ारसी के ज्ञान को 'सुसंस्कृत' बनने के लिये आवश्यक समझते थे, उसी प्रकार अंग्रेज़ों के चले जाने के २५ वर्ष बाद भी इस देश में अंग्रेज़ी का ज्ञान सभ्य, सुशिक्षित और सुसंस्कृत होने के लिए आवश्यक समझा जाता है। सभ्य समाज में थर्ड क्लास एम० ए०, पी० एच० डी० का जो मान है, वह महामहोपाध्याय, शमसुलउल्मा, या साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य का नहीं है, और इसीलिये संविधान में राजभाषा के पद पर हिन्दी के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी वह अभी तक अपना पद प्राप्त नहीं कर सकी, बल्कि अंग्रेज़ी को सह-राजभाषा बनाकर, और संविधान में यह कह कर कि जब तक एक राज्य भी एक मात्र हिन्दी को राजभाषा बनाने का विरोध करेगा तब तक हिन्दी पूर्णरूपेण भारत की राजभाषा न होगी, हमने अंग्रेज़ी को अनन्त काल के लिए इस देश में प्रतिष्ठित कर दिया है क्योंकि नागालैंड ने अपनी राजभाषा अंग्रेज़ी बना दी है, कुछ राज्य प्रत्यक्ष रूप से और कुछ प्रच्छन्न रूप से उसके विरोधी हैं। अतएव 'न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेंगी।' एक न एक राज्य पोलेण्ड की पुरानी राज्य सभा की तरह (liberum veto का) अधिकार काम में लाकर हिन्दी को कभी इस देश की एक मात्र राजभाषा न होने देगा। जो लोग इस संबंध में आशावादी हैं, उन्हें मैं केवल स्वप्नदर्शी कह कर संतोष किये लेता हूँ।

किन्तु फ़ारसी कभी भारत की जनता की भाषा नहीं हुई, वह केवल सामन्तवर्ग और उसके पिछलग्गू लोगों तक सीमित रही। यह कहना कठिन है कि फ़ारसीदाँ लोगों का देश में क्या अनुपात था। किन्तु प्रायः डेढ़ सौ वर्ष के अंग्रेज़ी राज में अंग्रेज़ी के सुसंगठित प्रचार, और स्वतंत्रता के बाद के २५ वर्षों में हिन्दोस्तानी अभिजात्य

और शासकवर्ग द्वारा प्रोत्साहित किये जाने पर भी इस देश में अंग्रेज़ी जानकारों का अनुपात आज भी केवल एक-दो प्रतिशत ही है। उन दिनों जब राज्य की ओर से उसके प्रचार और शिक्षा का इतना व्यापक और सुसंगठित आयोजन नहीं था, जब छापेखाने और समाचारपत्र नहीं थे, विश्वविद्यालयों और माध्यमिक स्कूलों, पब्लिक स्कूलों का जाल नहीं फैला हुआ था, तब फ़ारसीदाँ लोगों का अनुपात अवश्य ही आज के अंग्रेज़ीदाँ लोगों से कम ही रहा होगा। बहुसंख्यक जनता अपनी भाषा पढ़ने, बोलने में स्वतंत्र थी और देशी भाषाएँ अपनी सहज स्वाभाविक गति से जनता की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार विकसित हो रही थीं। यदि मुस्लिम काल में देशी भाषाओं का राज्य द्वारा संरक्षण और प्रचार नहीं होता था, तो उनका प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न विरोध भी नहीं किया जाता था। दरबारों में हिन्दी कवियों को स्थान देकर अवश्य उन्हें एक प्रकार की मान्यता दे दी गयी थी।

आरम्भिक काल : गद्य :

हिन्दू पुनर्जागरण मुग़ल सत्ता के समाप्त होने पर उत्तर भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना से उत्पन्न विविध कारणों से उसकी स्थापना के बहुत बाद हुआ। उत्तर भारत में अंग्रेज़ी सत्ता सबसे पहिले बंगाल में स्थापित हुई, उसके काफी दिनों बाद वह हिन्दी भाषी क्षेत्र में पहुँची। यद्यपि दक्षिण में मद्रास और दक्षिण-पश्चिम में बम्बई में अंग्रेज़ी सत्ता पहिले से स्थापित हो गयी थी, तथापि कई कारणों से पुनर्जागरण सबसे पहिले बंगाल में हुआ। इसके प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। बंगाल में अंग्रेज़ी शिक्षा की चकाचौंध और ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों के कारण अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में बंगाली लोग ईसाई होने लगे। इसे रोकने के लिए राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। यह ब्रह्म समाज उपनिषदों और ईसाईयत का मिश्रण था। वास्तव में वह उपनिषदों के कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों का ईसाई धर्म से एक ऐसा समझौता करने का प्रयत्न था जो तत्कालीन पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित बंगालियों को रुचिकर था। राजा राममोहन राय स्वयं अंग्रेज़ी भाषा के पक्षपाती थे, और ईसाई धर्म से बहुत कुछ प्रभावित थे, किन्तु वे उपनिषदों से भी प्रभावित थे और अपने देश की संस्कृति से न तो एक दम कट गये थे और न कटना ही चाहते थे। अतएव उन्होंने बंगालियों का बड़ी संख्या में ईसाई होना देश की संस्कृति और उसके आत्मसम्मान के लिए उचित नहीं समझा, और उन्होंने दोनों का मिश्रण कर एक मध्य मार्ग निकाला जिसमें ईसाइयों की तरह मूर्तिपूजा का निषेध, जातिपांति का बहिष्कार आदि बातें थीं, तथा जिसके दार्शनिक विचार उपनिषदों पर आधारित थे। नानक

और कबीर ने अपने समय की परिस्थितियों में जिस प्रकार इस्लाम और हिन्दू धर्म में समझौता कराने के प्रयत्न किये थे, उसी प्रकार नये परिवेश में राजा साहब ने यह प्रयत्न किया था। हिन्दी क्षेत्र में उस पुनर्जागरण का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ क्योंकि वह समस्या यहाँ नहीं थी। राजा राममोहन राय का ब्रह्म समाज बंगाल से पश्चिम की ओर नहीं पहुँचा। उत्तर भारत में पुनर्जागरण का श्रेय महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। उन्होंने सन् १८७५ में आर्य समाज की स्थापना की और उनका आन्दोलन उस धर्म की बहुत सी मान्यताओं के विरुद्ध था जिसे 'सनातन धर्म' कहते हैं। सनातन धर्म श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त है, अर्थात वह वेदों के महत्व को तो मानता ही है, पर साथ ही स्मृतियों और पुराणों को भी मानता है। स्वामीजी हिन्दू धर्म का शुद्ध रूप केवल वेदों के आधार पर मानते थे। उनकी दृष्टि में हिन्दू धर्म के बहुत से विश्वास जैसे, मूर्ति पूजा, श्राद्ध आदि वेद द्वारा प्रतिपादित नहीं हैं। इसी प्रकार पशु-बलि को भी वे वेद विरुद्ध मानते थे। वे नियोग को भी वेद विरुद्ध नहीं समझते थे, तथा जाति को जन्म से न मानकर कर्म से मानते थे क्योंकि उनके अनुसार वेदों की यही आज्ञा थी। स्वामीजी उन बहुत से रीति-रिवाजों के भी विरुद्ध थे, जैसे पीरों की पूजा, ताज़ियादारी आदि जो मुस्लिम काल में हिन्दू समाज में अज्ञान, मुसलमानों के अनुकरण आदि के कारण फैल गये थे। अतएव धर्म के सुधार के साथ वे समाज सुधार में भी प्रवृत्त हुए। वे ब्रह्मचर्य पर बल देते थे और अतिशुद्धतावादी (प्योरिटन) होने के कारण नाच, महफ़िल आदि शृङ्गारिकता और विलासिता की बातों के भी विरोधी थे। वे बड़े तेजस्वी थे। मुसलमान और ईसाई प्रचारक हिन्दू धर्म के विरुद्ध बहुत व्यापक प्रचार किया करते थे। वे हिन्दू धर्म पर प्रहार ही नहीं करते थे, उसका मज़ाक भी उड़ाते थे। एक ओर स्वामीजी ने कट्टर सनातनधर्मी विद्वानों से लोहा लिया, तो दूसरी ओर उन्होंने मुसलमान और ईसाई प्रचारकों की तथा उनके धर्म की उन्हींकी तरह कड़ी आलोचना भी की। उनके पूर्व किसी

हिन्दू ने इन धर्मों की आलोचना नहीं की थी और न उनके किये गये अपने धर्म पर प्रहारों का समुचित उत्तर ही दिया था। उनके पूर्व हिन्दू अपने धर्म की कटु आलोचना चुपचाप सुनते रहते थे क्योंकि मुस्लिम काल में सैकड़ों वर्ष असहायावस्था में अपने धर्म की अवमानता देखने के कारण उन्हें अपने धर्म की कटु आलोचना सुनने की आदत पड़ गयी थी। आज भी यह बात बहुत अंशों में ठीक है। हम औरों की कौन कहें, स्वयं अपने देवी-देवताओं, धर्म ग्रंथों का मज़ाक उड़ाते हैं किन्तु किसी दूसरे धर्म के किसी महापुरुष या ग्रन्थ के विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं करते। स्वामीजी संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे और उन्होंने कई वर्ष पंजाब में घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार किया। सनातनधर्मी पंडितों से ही उनका अधिक पाला पड़ता था, और आरम्भ में वे अधिकतर संस्कृत ही में भाषण देते या शास्त्रार्थ करते थे। किन्तु जनता में हिन्दी में भी कभी-कभी भाषण दे देते थे, यद्यपि गुजराती होने के कारण उनका उस समय हिन्दी पर अधिक अधिकार न था। शायद इसीलिये वे अधिकतर संस्कृत में भाषण देते थे। उनके आकर्षक व्यक्तित्व, पांडित्य और वाग्मिता से पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हजारों लोग उनके अनुयायी हो गये। वे कई वर्ष इस प्रकार प्रचार कार्य करने के बाद १८७४ में मुरादाबाद पहुँचे। वहाँ उस समय राजा जयकृष्ण दास (जो चतुर्वेदी ब्राह्मण थे) वहाँके प्रधान व्यक्तियों में थे। वे बड़े ज़मींदार और रईस थे। वे बड़े उदार व्यक्ति थे। वे सर सैयद अहमद के भी मित्र थे और एम० ए० ओ० कालेज के बनाने में उन्होंने सर सैयद की सहायता की थी। वे उन दो हिन्दुओं में से थे जिनका नाम कालिज के हॉल में उसके दानदाताओं में अंकित किया गया था। उनका परिवार सनातनधर्मी था और आज तक सनातनधर्मी है, यद्यपि वह बहुत प्रगतिशील रहा है। कुँअर सर जगदीश प्रसाद आई० सी० एस० उनके पौत्र थे। अपनी उदारता और गुणग्राहकता के कारण स्वामीजी के मुरादाबाद आने पर राजा साहब ने उन्हें अपने यहाँ बड़े आदर से ठहराया। यह बड़ी मनोरंजक बात है कि सनातन धर्म का विरोध करने पर भी सनातन धर्मी उनका आदर करते थे। मुझे राय

कृष्णदासजी ने बतलाया कि जब स्वामीजी काशी पधारे तो केवल दो व्यक्ति उन्हें लेने स्टेशन गये थे; एक थे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और दूसरे डा० भगवानदासजी के पिता बाबू माधवदासजी। ये दोनों ही सनातनधर्मी थे, और भारतेन्दु ने तो स्वामीजी के विरुद्ध हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में कई लेख भी लिखे थे। जो भी हो, स्वामीजी राजा साहब के पास काफ़ी दिनों तक ठहरे। राजा साहब को उनकी बहुत सी बातों में सार मालूम हुआ और उन्होंने उनसे कहा कि आप घूम-घूम कर केवल व्याख्यान देते हैं। इतने ही से आपके विचार जनता तक नहीं पहुँच सकते, और न इससे कोई स्थायी लाभ होगा। यदि आप उन्हें पुस्तकाकार लिख डालें तो वे स्थायी हो जायेंगे, और जनता तक दूर-दूर पहुँच सकेंगे। स्वामीजी को यह बात जँच गयी और उन्होंने वेदों का अपने मत के अनुसार सत्य अर्थ लिखने का निश्चय किया, और अपनी पुस्तक का नाम 'सत्यार्थ प्रकाश' रखा। उन्होंने राजा साहब से एक पंडित देने को कहा और उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश बोल कर लिखा दिया। लोगों का कहना है कि वे परम्परा-नुसार उसे संस्कृत में लिखना चाहते थे। कुछ लोग कहते हैं कि श्री केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा से, और दूसरों का कहना है कि राजा जयकृष्णदास की प्रेरणा से उन्होंने उसे हिन्दी में लिखा। उसकी मूल प्रति का अधिकांश सर जगदीश प्रसाद के पुत्र श्री यतीश प्रसाद के पास अब भी सुरक्षित है। मैंने उसके मुखपृष्ठ तथा तीन अन्य पृष्ठों की फोटो प्रति ले ली है, जिन्हें आप यदि चाहें तो देख सकते हैं। आवरण पर लिखा है; "श्रीयुत राजा जयकृष्ण दास जी की प्रेरणा से रचा गया। सब मनुष्यों के उपकार के वास्ते मनुष्यों का परम हित हृदय में विचार के बहुत प्रीति से स्वामीजी को रचने में प्रवृत्त किया।" बाद के संस्करणों से राजा जयकृष्णदास की प्रेरणा-वाला अंश निकाल दिया गया और लोग अब यह भूल गये हैं कि उस ग्रन्थ को लिखाने के लिये कौन उत्तरदायी है। उसके मूल आवरण में संस्कृत श्लोक थे और हिन्दी में राजा साहब की चर्चा थी। सत्यार्थ प्रकाश के मूल आवरण में यह लिखा है:

॥ अथ ॥

सत्यार्थप्रकाश॥

श्री स्वामी दयानन्दजी सरस्वती के 'सत्यार्थ प्रकाश' की मूल पाण्डुलिपि का आवरण

सत्यार्थ प्रकाश का मूल आवरण

॥ अथ ॥

॥ सत्यार्थ प्रकाशः ॥

। श्रीयुक्त दयानन्द सरस्वती स्वामीरचिता।

दयाया आनन्दो विलषति परस्स्वात्मविदितस्सर–
–स्वत्यस्यान्ते निवसति मुदासत्यशरणा॥ त
–दाख्याभिर्यस्य प्रकटितगुणा राष्ट्रियरमा
स को दान्तश्शान्तो विदितविदितो
वेद्यविदितः १ सत्यादर्थ–
प्रकाशाय ग्रन्थस्तेनै–
व निर्मितः वे
दादिसत्य
शास्त्राणां
प्रमाणैर्गुणसंयुतः २
विशेषभागीह वृणोति यो हि
तं प्रियोऽत्र विद्यां सुकरोति तात्विकीम्
अशेषदुःखान्तु विमुच्य विद्यया स मोक्षमा–
–प्नोति न कामकामुकः ३ न ततः फलमस्ति
हितं विदुषो ह्यधिकं परमं सुलभन्नु पदम् लभ–
–ते सुयतो भवतीह सुखी कपटी सुसुखी भविता न सदा ४
धर्मात्मा विजयी स शास्त्रशरणो विज्ञानविद्यावरो धर्मेणै
–हः (युः) तो विकारसहितोऽधर्मस्सुदुःखप्रदः । येनासौ
विधिवाक्यमान मनना सा खण्डखण्डीकृत–
स्सत्यं यो विदधाति शास्त्रविहितन्धन्योऽस्तु

तादृग्घि सः ५

श्रीयुक्त राजा जयकृष्णदास की प्रेरणा से यह ग्रन्थ र–
–चा गया सब मनुष्यों के उपकार के वास्ते मनुष्यों
का परमहित हृदय में (विचा)र के बहुत प्रीति से
स्वामी जी को रचने में प्र (वृत्त) कि (या)

मुझे इस बात का गर्व और प्रसन्नता है कि सत्यार्थ प्रकाश के निर्माण की प्रेरणा एक चतुर्वेदी ने दी जो मेरे एक दूर के सम्बंधी भी थे। खेद है कि आगे के संस्करणों में यह मूल आवरण नहीं छापा गया।

सत्यार्थ प्रकाश का पहला संस्करण राजा साहब ने अपने व्यय से १८७५ में बनारस के लाज़रस साहब के प्रेस में छपाया। मैंने उसकी प्रति देखने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह मुझे नहीं मिली। मैं अब भी उसकी खोज में हूँ। उसका दूसरा संस्करण १८८४ में हुआ। प्रथम संस्करण की भाषा का नमूना देखिये :

"आद्योपान्त यथावत सुविचार के फिर दूषण वा भूषण कहना उचित है अन्यथा नहीं जो पक्षपात दोष से दूषित हैं उनका कहना दूषण सज्जन लोगों को न मानना चाहिए क्योंकि निर्बुद्धि लोग विचार तो कर्ते (रते) नहीं वे दूषण वा भूषण को कैसे जान सकते हैं। इस्से सब मनुष्यों के प्रति मेरा यह विज्ञापन है कि आप लोग अत्यन्त चित्त लगा के इस ग्रन्थ को देखें और विचारें फिर यथोक्त करें।"

दूसरे संस्करण में स्वामीजी ने लिखा है "जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्म-भूमि की भाषा गुजराती होने के कारण से मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गयी थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिये इस ग्रन्थ को भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है। कहीं-कहीं शब्द वाक्य रचना का भेद हुआ है, सो करना उचित था, क्योंकि इसके भेद किये बिना भाषा की परिपाटी सुधारनी कठिन थी, परन्तु अर्थ का भेद नहीं किया गया है, प्रत्युत विशेष तो लिखा गया है। हाँ जो प्रथम छपने में कहीं-कहीं भूल रही थी, वह निकाल शोध कर ठीक कर दी गयी है।"

कहना न होगा कि इस ग्रन्थ की सनातनधर्मियों पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। जो वैचारिक क्रान्ति इस पुस्तक से हिन्दू संसार

(विशेषकर हिन्दी भाषी क्षेत्र में हुई) उसके परिणामस्वरूप सनातनधर्मी भी उसका सामना करने को तत्परता से लग गये।

क्रान्ति की प्रतिक्रिया में प्रतिक्रान्ति (counter revolution) का होना स्वाभाविक है। वेदों को दोनों ही सर्वोपरि मानते थे। अतएव जब आर्यसमाजी मूर्ति पूजा, श्राद्ध, आदि का विरोध तथा कर्म से जाति आदि का प्रतिपादन वेदों से अपने ढंग से करते थे, तब सनातनधर्मी विद्वान भी उन्हीं वेदों की अपने ढंग से व्याख्या करके उन्हें वेदों से ही प्रमाणित करते थे। अतएव खंडन-मंडनात्मक पुस्तकों और पुस्तिकाओं की बाढ़ आ गयी। आर्य समाज के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने से लिए अनेक पत्र-पत्रिकाएँ भी निकाली गयीं। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। आर्य समाज का अधिक ज़ोर पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश (विशेष कर मेरठ और रूहेलखंड) में था। वहाँके हिन्दू राजनीतिक एवं ऐतिहासिक कारणों से उर्दू पढ़ते थे, और वहाँ आर्य समाज का अधिकतर प्रचार उर्दू पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों द्वारा होता था। यद्यपि स्वामीजी हिन्दी के पक्षपाती थे जिसे वे 'आर्य भाषा' कहते और आर्य समाजियों को उसे सीखने पर बल देते थे, तथापि उर्दू के अभ्यस्त पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अधिकांश आर्यसमाजी उर्दू ही जानते थे। अतएव उनका उस समय अधिक लिखित प्रचार उर्दू के द्वारा ही होता था। इतना अवश्य था कि इन उर्दू पत्रों और पुस्तकों की उर्दू में धर्म संबंधी कितने ही संस्कृत शब्द उर्दू लिपि में लिखे जाने लगे जिससे आर्य समाज के उर्दू प्रकाशनों की भाषा पर परिष्कृत उर्दू के हिमायती नाक-भौं सिकोड़ते थे।

पंजाब प्रान्त तीन भागों को मिलाकर बनाया गया था। पंजाब, जिसकी भाषा पंजाबी थी, हरियाना और हिमाचल प्रदेश जो हिन्दी भाषी थे। किंतु पंजाब की राजभाषा उर्दू थी। यहाँके संस्कृतज्ञ विद्वान ही आर्य समाज से लोहा लेने को सबसे पहिले आगे बढ़े। इन पंडितों को सरकारी नौकरी की इच्छा न थी। इसलिए वे उर्दू न पढ़ कर संस्कृत पढ़ते थे और हिन्दी में लिखते थे। अतएव इन्होंने आर्य समाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध जो कुछ लिखा वह

हिन्दी ही में लिखा। इनमें सर्व प्रथम पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी थे जो पंजाबी होने पर भी अधिकतर ऐसा साहित्य हिन्दी ही में लिखते थे। वे हिन्दी के अच्छे लेखक थे। उन्होंने स्वामीजी की तरह ही दूर-दूर तक दौरे करके हिन्दी में असंख्य व्याख्यान दिये तथा सनातन धर्म सम्बन्धी पुस्तकें लिखीं। सनातन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने जगह-जगह 'हरि मंदिर' भी स्थापित किए जो सनातनधर्म के प्रचार और जनता में धार्मिक भावना जगाने के केन्द्र बन गये।

खड़ी बोली के आदि प्रवर्तकों में पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। वे बहुमुखी प्रतिभा के अनोखे व्यक्ति थे। 'जय जगदीश हरे' जो खड़ी बोली में लिखी हुई प्रार्थना है, और आज प्रायः सारे हिन्दीभाषी संसार में सर्वाधिक प्रचलित है, उन्हीं-की बनायी हुई थी। वे पंजाबी सारस्वत ब्राह्मण थे। उनका जन्म जालंधर जिले के फुल्लौर नामक स्थान में संवत् १८९४ में आश्विन शुक्ल प्रतिपदा को हुआ था। उनके पिता का नाम पंडित जय दयाल था जो स्वयं संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। उनकी मृत्यु केवल ४४ वर्ष की अवस्था में संवत् १९३८ (आषाढ़ कृष्ण तृतीया) को हो गयी, किन्तु इसी अल्पायु में उन्होंने जो कार्य किया उसे देखकर आश्चर्य होता है। अपने पिता से उन्होंने संस्कृत व्याकरण पढ़ा तथा मेधावी इतने थे कि लड़कपन ही में सारस्वत चन्द्रिका, अमर कोश, वेदान्त सूत्र तथा ज्योतिष और वैद्यक के कितने ही ग्रन्थ कंठस्थ कर लिए। बाद में वे काशी गये और वहाँ चार वर्ष रहकर उन्होंने वहाँ वेदों, पुराणों, स्मृतियों और दर्शन का विशेष अध्ययन किया। फिर दो वर्ष ऋषिकेश में रहकर उन्होंने वहाँके एक महात्मा विद्वान स्वात्मानन्दजी से उपनिषदों का अध्ययन किया। जब लौटकर फुल्लौर आये तो उन दिनों वहाँ कुछ दिनों के लिए एक विद्वान मौलवी आये हुए थे। उनसे उन्होंने अरबी और फ़ारसी पढ़ी और इन दोनों भाषाओं में दक्षता प्राप्त कर ली। बाद में उनका परिचय एक अंग्रेज़ पादरी से हो गया और उन्होंने उससे अंग्रेज़ी भी सीख ली, और उसमें उन्हें इतनी गति हो गयी कि उस पादरी ने उनसे बाइ-

बिल का अनुवाद उर्दू, हिन्दी और पंजाबी में करवाया। हिन्दी, उर्दू और पंजाबी में उनकी समान गति थी। अंग्रेज़ अफ़सरों को पंजाबी सिखाने के लिए उन्होंने पंजाबी भाषा में 'सिखदां राज दी विधियाँ' और 'पंजाबी बातचीत' पुस्तकें लिखीं जो खूब चलीं। फ़ारसी में उनकी गति इतनी थी कि उन्होंने 'दबिस्तान मज़ाहब' नामक फ़ारसी पुस्तक का बड़ी सलीस उर्दू में इतना अच्छा अनुवाद किया कि पंजाब के तत्कालीन छोटे लाट ने उसकी बड़ी प्रशंसा की। भाषाविद् होने के अतिरिक्त उनमें और भी अनेक गुण थे। वे बड़े अच्छे तैराक थे, बड़े ऊंचे दर्जे के संगीतज्ञ थे और तरह-तरह के जादू और हाथ की सफाई के खेल पेशेवर जादूगरों की तरह कर सकते थे।

उनका पत्र व्यवहार का ढंग भी विचित्र था। जिस भाषा में पत्र मिलता, उसी भाषा में उत्तर देते और कभी-कभी तो वे पत्रों का उत्तर कविता में दिया करते थे।

कविता करने की प्रतिभा उनमें जन्मजात थी। उनके लड़कपन में पंजाब में बैतबाज़ी का बड़ा प्रचार था, और वे उसमें लड़कपन में बहुत भाग लेते थे। जब कहीं आवश्यकता पड़ती तो आशु कविता करके सुना देते थे। लोग समझते थे कि वह किसी पुराने कवि की कृति है। हिन्दी में अधिकांश उन्होंने गद्य ही में लिखा। उन्होंने कुछ भजन और दोहे भी लिखे। ये सब खड़ी बोली में लिखे गये। उन्होंने 'शतोपदेश' नाम से नीति के अपने सौ दोहों का संग्रह प्रकाशित किया था। वे दोहे इतने उत्कृष्ट थे कि हिन्दी और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान तथा 'शारदा' के सम्पादक स्वर्गीय पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री ने उनका संस्कृत श्लोकों में अनुवाद किया था। उन्होंने प्रायः बीस पुस्तकें लिखी थीं। उनमें 'सत्यामृत प्रवाह', 'नित्य प्रार्थना', 'सत्य धर्म मुक्तावली', 'धर्म रक्षा', 'रमल कामधेनु', 'शतोपदेश' और 'भाग्यवती' मुख्य हैं। इनमें नित्य प्रार्थना संस्कृत श्लोकों की छोटी सी पुस्तक है, जिसमें केवल श्लोक हैं। शेष पुस्तकें खड़ी बोली हिन्दी में हैं। सत्यामृत प्रवाह में हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों का सरल भाषा में निचोड़ है। यह पुस्तक अपेक्षाकृत बड़ी है।

सत्यधर्म मुक्तावली उनके खड़ी बोली के भजनों का संग्रह है। 'जय जगदीश हरे' इस पुस्तक का प्रथम भजन है। 'रमल कामधेनु' सरल हिन्दी में ज्योतिष की पुस्तक है। 'भाग्यवती' उपन्यास है जो उन्होंने पंजाब की हिन्दी पढ़नेवाली लड़कियों के लिए लिखा था। वह मूलतः महिलोपयोगी है और वह स्त्रियों में शिक्षा की आवश्यकता और प्रचार के उद्देश्य से लिखी गयी थी। उसमें बाल विवाह आदि अनेक सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया गया था। वह हिन्दी का यदि सर्वप्रथम उपन्यास नहीं, तो प्रथम उपन्यासों में तो है ही। वह इतना लोकप्रिय हुआ कि कई दशकों तक वह पंजाब में उच्च स्तर की कन्या पाठशालाओं में पढ़ाया जाता था। खड़ी बोली की प्रांजलता की दृष्टि से इसका महत्व है। उसकी भाषा का नमूना देखिए :

'कल मैं गंगा स्नान को गयी, एक स्त्री मुझे आपकी दासी समझ के पूछने लगी, पंडितानी जी, तुम्हारे पंडित जी तो बड़े प्रतिष्ठित और सब राजा बाबू उनकी मानता करते और काशी राज की पाठशाला में सौ रुपये महीने पाते सुने जाते हैं। इसका क्या कारण है कि उनका बेटा सोलह वर्ष का हुआ। आज लौं अभी मंगनी भी नहीं उठी। भाग्यवती से पूछिये, मैंने उस समय कैसी लज्जा उठाई। पहिले तो मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया पर फिर जब सुना कि यह सेठ लेखराज की लुगाई है, जौ कुछ उत्तर न दूंगी अपने मन में कुछ और संशय खड़ा कर लेगी तो कहा सेठानी जी, तुम सदा से जानती हो कि काशी में हमारा कुल कैसा पवित्र है, तुम यजमानों के नाम से जन्म पीछे लेते और सगाइयाँ पहिले ही आई धरी रहती हैं, पर क्या करें, हमारे पंडित जी को यह हठ हो रहा है कि हम अठारह वर्ष से पहिले बेटा न ब्याहेंगे।"

इन सब पुस्तकों की भाषा खड़ी बोली थी—गद्य की भी और पद्य की भी। ये पुस्तकें उस युग में खूब लोकप्रिय हुईं। अतएव खड़ी बोली के प्रचार में उनकी पुस्तकों से बड़ा बल मिला क्योंकि उनके व्यक्तित्व, लोकप्रियता और प्रसिद्धि के कारण उनकी सभी पुस्तकों का बड़ा प्रचार हुआ।

उनके शतोपदेश के खड़ी बोली के दोहों के कुछ नमूने देखिए, और पंडित चन्द्रशेखर शास्त्री के उनके संस्कृत अनुवादों की भी चाशनी चखिए :

"विषय सभी विषरूप हैं, पर विशेष व्यभिचार
तन मन धन हर, मान हर, लज्जा हरत विचार।

विषंहि विषया: सर्वे व्यभिचारस्तोऽधिक:
मन: कायं धनं मानं लज्जांनयतिचक्षयम्।

जल थल पर्वत रूख तृण, मानुष पशु खग खान
गुणग्राहक सबसे गहे शिक्षा गुरुवत जान।

मनुष्यपशुपक्षिभ्यो वृक्षादभ्यश्चतथापुन:
उपाद ते गुणजोहि शिक्षांज्ञात्वापरंगुरुम्।

जिस कारज के किये से अन्त होय पछताप
तिस आरम्भ न कीजिए आदि विचारौ आप।

सभ्या दितेनोयस्मिन् कार्येपश्चाद्धितप्यते
न तत्कार्यं विधातव्यं प्राग्विचार्यमनीषिभि:।

जगत समुद्र अगाध है, सुख दुख भोग तरंग
उपजत मिटत स्वभाव से, यही सनातन ढंग।

संसार सागरेऽगाधे ,सुखदु:खोहिवीचय:
उत्पद्यन्तो विलीयन्ते स्वभाव:शाश्वतोह्ययम्।

"नित्य प्रार्थना" के श्लोक संस्कृत में शिखरणी छंद में हैं। सिंहपाल नाम के उनके किसी भक्त ने उसका हिन्दी अनुवाद करके मूल के साथ उसे छपाया था। उनके शिष्य और भक्त भी उन दिनों (१८४० वि० के पूर्व) किस प्रकार की खड़ी बोली का गद्य लिखते थे, उसका उदाहरण इस अनुवाद से मिलता है। श्रद्धारामजी की 'नित्य प्रार्थना' के प्रथम और अन्तिम श्लोक और सिंहपाल के उनके अनुवाद देखिए :

"त्वदीयानाम्नोज्ञाह्यधमकुलजाताश्च बहव:
विमुक्ता: पापेभ्य: पुनरपि विपद्भ्य:कलिमलात्
मनोमेवांछन्ते यदुपदशदोषा:प्रतिदिनम्
स्वदासंमांन्तेभ्यो झटति कृपया मोचय विभो ॥
पठन्तोनित्यं यद्भवभययुताश्चाप्ययघयुता:
विमुच्यंतेलोका: पुनरपिविशन्त्यात्मनिपदम्
अहं श्रद्धाराम: सुगमतरमात्मार्थमथवा
परार्थं श्रीविष्णोरिहरचितवान् प्रार्थनमिदम् ॥

हे परमेश्वर! तेरे नाम से नीच कुल में भी उत्पन्न होकर कलियुग के पापों और बड़ी विपदों से बहुत लोग छूट गये हैं। मेरे मन को जो दश इन्द्रियाँ प्रतिदिन पीड़ा दे रही हैं, अपनी शरण में आए हुए मुझको तू उनसे छुड़ा।

मैं श्रद्धाराम बहुत सुगम, अपने और दूसरों के लिए इस श्री परमेश्वर की प्रार्थना को रचता भया जिसको नित्य पढ़ते हुए संसार में पापी लोग भी पाप से छूट जाते हैं और फिर अपने ब्रह्म में मिल जाते हैं।

श्रद्धारामजी की लिखी हुई दूसरी प्रार्थना की सिंहपाल की की हुई भाषा टीका समाप्त हुई।"

श्रद्धारामजी सनातनधर्मी थे पर समाज सुधारक भी थे। उन्होंने बाल विवाह आदि अनेक तत्कालीन सामाजिक बुराइयों का विरोध किया और स्त्री शिक्षा पर विशेष जोर दिया क्योंकि समाज सुधार के मामले में आर्य समाजियों और सनातन-धर्मियों में मौलिक मतभेद न था।

उन्होंने पंजाब, हिमाचल, हरियाना तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मुख्यत: अपने व्याख्यानों द्वारा खड़ी बोली का प्रचार किया।

वे उन असंख्य सनातन धर्म के उपदेशकों के अग्रणी थे जिन्होंने सारे भारत में घूम-घूम कर अपनी खड़ी बोली के व्याख्यानों के द्वारा देश में खड़ी बोली का प्रचार किया। पं० दीनदयालु शर्मा,

कालूराम शास्त्री, नन्दकिशोर शर्मा वाणीभूषण, विद्यावारिधि पं० बलदेवप्रसाद मिश्र आदि सभी सनातनधर्मी प्रचारक और उपदेशक श्रद्धाराम की व्याख्यान परम्परा पर चले। उन दिनों उत्तर भारत में आर्य समाज का प्रचार बड़े जोरों से हो रहा था और उसकी प्रतिक्रिया में सनातनधर्मी भी बहुत सक्रिय हो गये थे। सनातन धर्म महामंडल उसीकी प्रतिक्रिया में एक बंगाली साधु स्वामी ज्ञानानन्दजी के प्रयत्न से स्थापित हुआ था। आर्यसमाजी प्रचारक अधिकतर पंजाबी थे, और यद्यपि वे महर्षि स्वामी दयानन्दजी के मत के कारण 'आर्य भाषा' को मानते थे तथापि उनकी शिक्षा उर्दू में हुई थी और उनके अधिकांश उपदेशक उर्दू बहुल भाषा में भाषण देते थे। उनके आर्यसमाजी पत्र भी अधिकतर उर्दू में निकलते थे। बाद में स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द आदि आर्यसमाजी नेता भी प्रांजल खड़ी बोली में भाषण देने लगे। जैसा कि हम बतला चुके हैं, आर्यसमाजी पत्र अधिकतर उर्दू में निकलते थे, जिनमें कितने ही संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग होता था। उनकी इस प्रवृत्ति ने भी उर्दूभाषी आर्यसमाजियों को हिन्दी से परिचित कराकर परोक्ष रूप से उर्दू के द्वारा खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार किया। किन्तु फ़ारसी लिपि में लिखे जाने के कारण उनका उच्चारण विकृत हो जाता था। बाद में आर्यसमाज ने 'आर्य भाषा' अर्थात् हिन्दी में भी पत्र निकाले जिनमें आर्यमित्र आज भी जीवित है, किन्तु सनातनधर्मियों के प्रायः सभी पत्र खड़ी बोली हिन्दी में निकलते थे। इनकी संख्या काफी थी। भागलपुर (बिहार) से निकलने वाला पं० अंबिकादत्त व्यास का 'पीयूष प्रवाह' इस संबंध में उल्लेखनीय है। पंडित देवीसहाय का 'धर्म दिवाकर' दूसरा महत्वपूर्ण और उच्च कोटि का मासिक पत्र था जो कलकत्ते से निकलता था। सनातन धर्म महामंडल की 'निगमागम चन्द्रिका' बाद में निकली और शायद अभी भी प्रकाशित हो रही है। मुरादाबाद के पं० रामस्वरूप शर्मा की 'सनातन धर्म पताका' ने तथा इटावे से पं० भीमसेन शर्मा के 'ब्राह्मण सर्वस्व' ने भी सनातन धर्मी जनता में खड़ी बोली के प्रचार

में बड़ा स्तुत्य कार्य किया। हमने तत्कालीन हिन्दी पत्रकारिता को अपने भाषण में जानबूझ कर स्थान नहीं दिया। वह एक स्वतंत्र विषय है। अतएव हम यहाँ केवल कुछ महत्वपूर्ण पत्रों के नाम देकर ही संतोष किये लेते हैं। वह विषय इतना महत्वपूर्ण और वृहद है कि उस पर एक स्वतंत्र भाषण अपेक्षित है। अतएव हम इनके विषय में अधिक नहीं कह रहे। किन्तु यहाँ हम यह कहना चाहते हैं कि सनातन धर्म के उपदेशकों ने शिक्षित और अशिक्षित जनता में प्रायः २५, ३० वर्ष तक लगातार देशव्यापी व्याख्यानों के द्वारा, और उनके पत्रों ने खड़ी बोली का प्रयोग कर हिन्दी पढ़ सकने वाली जनता में खड़ी बोली का व्यापक प्रचार किया। इन व्याख्यानों की परम्परा चलाने का श्रेय श्रद्धारामजी को है जिसे आगे चलकर व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयालु शर्मा, पं० अंबिकादत्त व्यास आदि ने चरम सीमा पर पहुँचा दिया।

जैसा कि अभी कह आये हैं, आर्य समाज का विरोध करने के लिये अनेक पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त कितने ही छोटे बड़े पैम्फलेट, पुस्तिकाएँ, पुस्तकें आदि खड़ी बोली गद्य में निकलने लगीं। इनका विस्तार समस्त हिन्दी भाषी क्षेत्र में था। मेरे पूज्य पिताजी के संग्रह में इन पत्र-पत्रिकाओं की कुछ फाइले हैं। 'पीयूष प्रवाह' और 'धर्म दिवाकर' अपने ग्राहकों से चंदा पाने पर उनका नाम और पता भी प्रकाशित करते थे। उनके ग्राहक कहाँ कहाँ थे, इसका कुछ आभास उन ग्राहकों के नगरों से हो सकता है। इन दो पत्रों के ग्राहक इन नगरों में थे:

पीयूष प्रवाह (एक वर्ष)

कराची	जमुई	गंगौर	सोनबरसा
समस्तीपुर	शाहपुर	जोधपुर	शिवगंज
आगरा	मधुबनी	मारवाड़	झालावाड़
हजारीबाग	गिद्धौर	शिकारपुर	अमृतसर
कटरी सराय	गधवार	मुंगेर	उदयपुर
दलसिंह सराय		मोतीहारी	बूँदी

मथुरा	पटना	शाहाबाद	बरनाला
दाउदनगर	चानन	भरतपुर	शामगढ़
संभलपुर	मिर्जापुर	क्वेटा (बलूचिस्तान)	जनकपुर
जोगिआरा	आगरा	बालाघाट	नरसिंहपुर
बढ़गारिया	डुमराँव	रतनगढ़	एहियापुर
भोपाल	मुजफ्फरपुर	ग्वालियर	चंदौसी
बनगांव	बाराबंकी	रांची	गाजीपुर
उरई		जालौन	दरभंगा
गोरखपुर	इन्दरगढ़	पुर्निया	रामपुर
पटियाला	हजारीबाग	राजमहल	सिरसा गाँव
खड़गपुर	मुकामा	गुना	बमनेर
मुरादाबाद	दानापुर	जौनपुर	हिसार
बम्हन गाँव	बलिया	शिमला	हावड़ा
छपरा	सोनवानी		कानपुर
जबलपुर	टिकोरी		

धर्म दिवाकर संवत् १९४२

शेरपुर	होशंगाबाद	छितगांव	दार्जिलिंग
करवी (बाँदा)	कनखल	अकबरपुर	जहानाबाद
फर्रुखाबाद	इन्दौर	अगरतल्ला (त्रिपुरा)	वारपेटा
बरेली	जयपुर	बम्बई	गया
मेरठ	बनारस	नागपुर	खिलचीपुर
बाँदा	दानापुर	कानपुर	हरदा
बांकीपुर	गोरखपुर	रतलाम	कामठी
मऊ छावनी	खैरागढ़	जालंधर	गोरखपुर
प्रतापगढ़	कोपागंज	सीहोर	बरेली
छपरा	दिल्ली	हरदा	खेतड़ी
सिकंदराबाद	अलवर	बसई	भरतपुर
धामपुर	फिरोजपुर	बूंदी	टोंक
अजमेर	प्रयाग		

यह सूचियाँ केवल एक वर्ष की हैं, इनसे पता चलता है कि उस समय हिन्दी पढ़नेवाले क्वेटा (बलूचिस्तान) से लेकर अगरतल्ला (त्रिपुरा) और लाहौर अमृतसर से लेकर संभलपुर तक फैले हुए थे। इन पत्र-पत्रिकाओं ने खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार करने में इतने विस्तृत क्षेत्र में योगदान दिया था। उस समय भी हिन्दी इतने विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई थी और यदि वह भारत की राजभाषा होने के योग्य समझी गयी तो आश्चर्य की बात नहीं है।

हिन्दी का प्रचार पहिले तो आर्य समाज ने परोक्ष रूप से किया। किन्तु चूँकि आर्य समाज 'आर्यभाषा' अर्थात् हिन्दी का हिमायती था, इसलिए बाद में उसने प्रत्यक्ष रूप से अपने डी० ए० वी० स्कूलों का देश में जो जाल बिछाया उनमें उसने हिन्दी की शिक्षा अनिवार्य कर दी। वैदिक आश्रमों के नमूने पर उसने जो अनेक गुरुकुल स्थापित किये उनमें तो हिन्दी माध्यम से वह उच्चतम शिक्षा तक देने लगा। इस प्रकार कालान्तर में उसने उर्दूभाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी (खड़ी बोली गद्य) का प्रत्यक्ष और व्यापक प्रचार किया।

जैसा कि मैं ऊपर बता चुका हूँ, स्वामीजी ने वैदिक धर्म के प्रचार के साथ-साथ समाज सुधार पर भी बल दिया था। इसमें सनातन धर्मियों और आर्य समाजियों में कोई मौलिक मतभेद न था। अतएव सामाजिक कुरीतियों को दूर करने और समाज सुधार के लिए अनेक जातियों की पत्र-पत्रिकाएँ निकलने लगीं। यहाँ तक कि जैन समाज भी इसमें अग्रसर हुआ। 'जैनगज़ट' आदि अनेक जैन पत्र निकले। कान्यकुब्ज, सरयूपारी, माथुर चतुर्वेदी, सारस्वत, गौड़ आदि के अतिरिक्त 'हैहय क्षत्रिय पत्रिका', 'कूर्म क्षत्रिय पत्रिका', 'राजपूत' आदि अनेक जातियों के मासिक पत्र निकलने लगे। मेरे संग्रह में एक पत्रिका के कुछ अंक हैं, जिसका नाम 'बिच्छू' है। मैं बहुत दिनों तक उसका अर्थ नहीं समझा। बाद में एक बार जब मैं राजस्थान सरकार के शिक्षण संबंधी कार्य को देखने के लिए वहाँ भेजा गया तो वहाँ जोधपुर या बीकानेर में, मुझे ठीक याद नहीं है कि कहाँ, मैंने एक बड़ी सड़क पर एक साइनबोर्ड देखा, "बिच्छू

ब्राह्मण महासभा।" तब मुझे ज्ञात हुआ कि वह 'बिच्छू' नामक मासिक पत्र एक जाति का सामाजिक पत्र था। महिलाओं के लिए भी पत्र निकले। पहिले रतलाम से और फिर आसाम से श्रीमती हेमन्तकुमारी चौधरानी ने 'सुगृहणी' नाम की पत्रिका निकाली जो हिन्दी में महिलाओं के लिए पहिली पत्रिका थी। ये सब खड़ी बोली गद्य में निकलती थीं और अधिकांश पत्रों की भाषा प्रांजल खड़ी बोली थी, यद्यपि वह आजकल की तत्सम बहुल खड़ी बोली से कुछ भिन्न थी। वह ऐसी खड़ी बोली थी जो उस समय चलती थी। अवश्य ही विषयों के अनुसार कभी-कभी कुछ संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता था, किन्तु तब तक आचार्य द्विवेदी ने तत्सम शब्दों का प्रचार नहीं किया था और आज के विद्वानों की तरह वह अप्रचलित किताबी और विद्वानों की शब्दावली से इतनी बोझिल नहीं हुई थी कि मेरे ऐसे सामान्य हिन्दी पाठकों के लिए भी दुरूह हो जाय। वे स्वाभाविक, सरल एवं बोलचाल की खड़ी बोली हिन्दी का प्रयोग करते थे जिससे उनकी बात सामान्य जनता तक पहुँच जाती थी।

इन धार्मिक और सामाजिक पत्रों तथा खंडन-मंडनात्मक साहित्य के पूर्व हिन्दी में स्कूली पुस्तकों के अतिरिक्त बहुत कम पुस्तकें निकलती थीं। आर्य समाज आन्दोलन ने अपने पक्ष और विपक्ष में जो जाग्रति पैदा की उससे हिन्दी लेखन और प्रकाशन को अभूतपूर्व प्रोत्साहन ही नहीं मिला, प्रत्युत खड़ी बोली गद्य इतना प्रचारित हो गया कि उसमें अनेक विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं।

इस आन्दोलन ने हिन्दू समाज में जो पुनर्जागरण उत्पन्न किया उसका एक परिणाम जो सभी पुनर्जागरणों (Renaissance) में होता है, वह अतीत के प्रति आकर्षण और उसके गौरव को पुनः स्थापित करने, या कम से कम उसे स्मरण करने और समझने की प्रवृत्ति भी है। उसका एक कारण शायद यह भी था कि हिन्दू जाति प्रायः एक हजार वर्ष से पददलित थी। उसे अपने ही देश में नागरिक अधिकार या धार्मिक स्वतंत्रता न थी। विदेशी पठान और मुग़ल

उन पर निरंकुश राज्य करते थे। वे सदैव पश्चिम एशिया की ओर आदर्शों और प्रेरणा के लिए उन्मुख रहते थे। ईरान, इराक़, अरब, समरकंद और बुखारा आदि से मुस्लिम विद्वान, व्यापारी और सैनिक भाग्य आजमाने के लिए यहाँ बराबर आते रहते थे। इस कारण भारत में बस जाने के बावजूद मुग़ल शासकों और मुसलमान आभिजात्य वर्ग का सांस्कृतिक संबंध मध्य और पश्चिम एशिया से बराबर बना रहा और वे उससे प्रभावित होते रहे। वहाँ के आदर्श उनके आदर्श रहे। अवश्य ही कुछ भारतीय रीति रिवाज, कुछ उत्सव आदि उन्होंने अंशतः अपना लिये, किन्तु वास्तव में वे 'भारतीय' नहीं हो सके क्योंकि उनके आदर्श, उनकी मानसिकता सदैव पश्चिमी और मध्य एशिया की रही। यहाँ तक कि उनका परिधान और भोजन भी भारतीय न था। मैंने कभी न तो सुना और न ऐसा चित्र ही देखा जिसमें कोई मुस्लिम शासक धोती पहिने हो। इसके विपरीत उन्होंने दरबार में पश्चिम एशिया या ईरान का परिधान अनिवार्य कर दिया। यदि हिन्दुओं द्वारा उन सब बातों का पालन या अनुकरण करना कुछ लोग 'हिन्दू मुस्लिम समन्वय' कहते हैं तो मैं सिवाय चुप रह जाने के और कुछ नहीं कर सकता। अवश्य ही यहाँके जो हिन्दू किसी कारण से मुसलमान हो गये थे, या जो हिन्दू स्त्रियाँ किसी कारण से उनके यहाँ पहुँच गयीं थीं, उनमें हिन्दू रीति रिवाज किसी न किसी विकृत रूप में संस्कारवश कुछ दिनों चलते रहे। किन्तु बाहर से आनवाल मुसलमान उन्हें न तो अच्छी निगाह से देखत थे और न उन्हें प्रोत्साहन देते थे। मुग़ल दरबारों के नियम और औपचारिकता ईरान के शाही दरबार के आदर्शों पर निर्मित थी। यही नहीं, मुसलमान शासकों ने, वे चाहे पठान, तातार या चग़ताई हों, और चाहे अपने घरों में अपनी मातृभाषाएँ बोलते हों, फ़ारसी भाषा को राजभाषा के पद पर स्थापित कर दिया था। हिन्दू भारत का विदेशों से सम्पर्क एकदम टूट गया था, किन्तु उनकी अपनी भाषा वाह्य प्रभावों से बहुत मुक्त रही। इस राजनीतिक परिस्थिति के कारण भारतीय मुसलमान साम्राज्य में जो लोग शासक वर्ग से सम्बन्ध स्थापित करना चाहते

थे, वे भी फ़ारसी पढ़ने लगे यहाँ तक कि हिन्दू राजा और सामंत भी उनस पत्राचार करने के लिए फ़ारसी में निपुणता प्राप्त करने लगे। जो सामान्य हिन्दू राजसेवा में जाना चाहत थे, वे भी फ़ारसी में निपुणता प्राप्त करने लगे। छोटे बड़े सामंतों ने दिल्ली के शाही दरबार के आदर्श पर अपने दरबारों की औपचारिकता चलायी। उसीके आदर्श पर राजाओं ने भी दीवाने आम, दीवाने खास, शीशमहल आदि बनाये। शासकों के परिधान, रीति-रिवाज़ों के साथ उन राजाओं, नवाबों, छोटे शासकों में भी फ़ारसी का कम या अधिक उपयोग होने लगा। यह सर्वविदित बात है कि प्रजा शासकों की नकल करने लगती है। मुस्लिम राजकाल में शासकों की फ़ारसी भाषा, परिधान, खानपान और अनेक रीति-रिवाज़ों की नकल हिन्दू सामंतों द्वारा होने लगी थी और नौकरी पेशा करने वाले भी उनका अनुसरण करने लगे थे। जिस प्रकार आज की नौकरशाही को अंग्रेज़ी से मोह है, उसी प्रकार उस समय की भारतीय नौकर-शाही को फ़ारसी से मोह था। मैं राजा टोडरमल को भारत का पहिला 'ब्यूरोक्रेट' मानता हूँ। वे साधारण परिवार में उत्पन्न हुए थे, और राजसेवा में आ गये तथा उन्नति करते-करते शेरशाह सूरी के, और बाद में अकबर के राजस्व मंत्री हो गये थे। मुसलमान शासन सैनिक बल पर आधारित शासन था। अतएव शासक 'सिपाहीगीरी' पर ही अधिक ध्यान दते थे। वे हिसाब-किताब रखने और राजस्व का लेखा-जोखा करने के लिए अधिकतर हिन्दू लोगों की सेवा का उपयोग करते थे। प्रतिभाशाली और अत्यन्त कार्यकुशल राजा टोडरमल सामान्य पद से उन्नति करके शेरशाह सूरी के राजस्व विभाग के अध्यक्ष हो गये। सूर वंश के पतन के बाद मुग़ल वंश ने भी उनकी योग्यता के कारण उन्हें उसी पद पर बने रहने दिया। वे इतने योग्य और प्रतिभाशाली थे कि विक्रम के अनुकरण पर जब अकबर के दरबार में 'नवरत्नों' की कल्पना हुई, तब वे भी उन नौ में एक रत्न गिने जाने लगे। राजस्व के विशेषज्ञ होने के अतिरिक्त वे अच्छे सैनिक भी थे। शेरशाह सूरी के समय तक राजस्व का काम देशी भाषाओं में होता था और दिल्ली में उसके

लिए देवनागरी लिपि का उपयोग और स्थानीय हिन्दी भाषा का उपयोग होता था। यहाँ तक कि मुग़लों के पूर्व कितने ही मुसलमान शासकों के सिक्कों पर देवनागरी में लिखे नाम मिलते हैं। राजा टोडरमल ब्यूरोक्रेट थे। उन्होंने अपने विभाग में भी राजभाषा फ़ारसी का प्रवेश कराया। तब से ब्यूरोकैसी शासकों की भाषा को महत्व देती आ रही है। दीर्घकाल तक राजभाषा रहने के कारण फ़ारसी की जड़ें निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर के प्रशासन एवं आभिजात्य वर्ग में इतनी गहरी जम गयी थीं कि अंग्रेज़ी शासन के स्थापित होने के ५०, ६० वर्ष बाद तक उच्च वर्गों में राजनीतिक आवश्यकता न होने पर भी सुशिक्षित और सुसंस्कृत समझे जाने के लिए फ़ारसी पढ़ना आवश्यक समझा जाता था। यद्यपि मेरे परिवार में संस्कृत पठन-पाठन की परम्परा थी, तथापि जब हमारा परिवार इलाहाबाद आ गया तब मेरे पिताजी ने तत्कालीन मध्य शिक्षित वर्ग की मान्यताओं के अनुसार मुझे 'सुसंस्कृत' और शिष्ट समाज के योग्य बनने के लिए एक मौलवी साहब को रख कर फ़ारसी पढ़वायी थी। मैंने करीमा, मामकीमा, गुलिस्ताँ और बोस्ताँ पढ़े थे। राजर्षि टंडन की तो फ़ारसी शिक्षा इतनी पक्की थी कि अंत तक उन्हें फ़ारसी, विशेषकर मौलाना रूमी और शेख सादी, की अनेक पंक्तियाँ याद थीं और वे उनमें बड़ा रस लेते थे।

फ़ारसी के राजभाषा होने का प्रभाव उत्तर भारत की देशी भाषाओं पर अप्रत्यक्ष रूप से दो तरह से पड़ा। एक तो राजकीय और आभिजात्य वर्ग से प्रोत्साहन न मिलने के कारण उनका (विशेषकर हिन्दी का) जितना स्वाभाविक विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हो सका। अब्दुलरहीम खानखाना के समान व्यक्ति सामंत वर्ग में बहुत कम ही थे। हिन्दी बिना राजाश्रय के जनता के बल पर जनता की भाषा होने के कारण जनता में प्रिय बनी रही। किन्तु न तो तब छपाई के यंत्रालय थे और न समाचार पत्र थे, और न आजकल की तरह व्यापक शिक्षा प्रणाली या आवागमन के साधन ही थे। इसलिए फ़ारसी ने गाँवों में प्रवेश नहीं किया जहाँ बहुसंख्यक जनता रहती थी। वहाँ विवशता से 'मज़रुआ'

काग़जाते अरबा, हमशीरए-आवमाफ़ी, आराज़ी, क़ाबिले-ज़रात, इन्क़िलाब (चोरी), मस्तूरात (स्त्रियाँ), अल्कशर्ब (बँटवारा), नान-ओ-नफ़का (रोटी-कपड़ा), अशिया, अज़जानिब, अज़ आँ, जुमला (उन सबमें से) बिलजब्र, अज़सरेनौ, माबैन (बीच में) इब्न (बेटा) ऐसे अनेक पारिभाषिक फ़ारसी शब्दों से उनका अवश्य परिचय हो गया, किन्तु उनकी बोलचाल और व्यवहार की भाषा पर विशेष प्रभाव न पड़ा। इस कारण इन भीतरी और दूरस्थ स्थानों में उस समय भी कुछ शुद्ध हिन्दी साहित्य-विशेष कर काव्य साहित्य-का निर्माण होता रहा। पर उसका सम्यक प्रसार उस समय केवल राजाश्रय के आधार पर हो सकता था। फिर भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि इन सब कठिनाइयों और असुविधाओं के बावजूद सूरदास, चन्द्रसखी आदि के पद, तुलसीदास की रामायण, केशव, भूषण, मतिराम, देव आदि के छन्द, गिरिधर की कुंडलियाँ, रहीम, बिहारी, वृन्द, कबीर और तुलसी के दोहे, नरहरि के छप्पय पंजाब से बिहार तक, और अवध और रुहेलखंड से मालवा तक, जनता के कंठ में उतर गये। इसका स्पष्ट कारण यह था कि वे राज्य द्वारा प्रोत्साहित और थोपी गयी विदेशी राजभाषा की अपेक्षा जनता के हृदय की भाषा में थे और उनके (जनता के) आदर्शों, सौंदर्य-बोध और भावनाओं को व्यक्त करने की अपनी सामर्थ्य और शक्ति के कारण जंगल की आग की तरह सारे देश में फैल गये। वे उनके जीवन के निकट थे और उनमें उनकी दैनन्दिनी अनुभूतियों, समस्याओं और संघर्षों का प्रतिबिम्ब था। ईरानी शासकों की प्रथा के अनुसार इस देश के मुस्लिम शासक भी अपने दरबारों में कवि रखते थे। दरबारों में मुख्य रूप से फ़ारसी के कवियों को स्थान मिलता था, किन्तु कभी-कभी केवल नीति के कारण, और कभी कभी शासक में हिन्दी में वास्तविक रुचि होने के कारण, हिन्दी के कुछ कवि भी शाही और सामंती दरबारों में रखे जाते थे। जैसा कि हम बतला चुके हैं, शासक ईरानी संस्कृति से प्रभावित थे और फ़ारसी शायरी इश्क प्रधान होती थी। इश्क मजाज़ी और इश्क हक़ीकी का सूक्ष्म भेद करना अधिकांश लोगों के लिए कठिन था।

इश्क के विषय के अतिरिक्त फ़ारसी में नाज़ुक-खयाली को काव्य का एक बड़ा गुण समझा जाता था। अतएव शासकों की रुचि ऐसी ही कविता की ओर थी जिसे हम 'शृङ्गारिक और चमत्कारिक' कविता कह सकते हैं। इस कारण इन दरबारों में रहने वाले हिन्दी कवियों को अपने आश्रयदाताओं को अपनी कविता से प्रसन्न रखने के लिए फ़ारसी शायरों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती थी, अतएव दरबारी हिन्दी कवि चाहे वे शाही दरबार में हों, या सामान्य सामंतों के दरबार में, शृङ्गारिक कविता करने को विवश थे। जो कवि दरबारी नहीं थे, वे नीति, भक्ति या धर्मपरक काव्य रचते थे। जिस प्रकार फ़ारसी में घोर शृङ्गारिक कविताओं के इश्क मजाज़ी की व्याख्या करके उसे प्रतिष्ठित बनाने को उसे इश्क हकीक़ी बतलाया जाता था, उसी प्रकार हिन्दी कवियों ने अपनी कविताओं में राधाकृष्ण का आलम्बन लेकर उन्हें सम्माननीय बनाने और उन्हें इश्क हक़ीकी का जामा पहिनाने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि उस समय के दरबारों और सामंतों से प्रभावित कविता शृङ्गार रस से ओत-प्रोत है जिसके कारण ब्रजभाषा काव्य को इतना बदनाम किया जाता है। किन्तु इन असंख्य दरबारी कवियों में कुछ वास्तविक साहित्यिक प्रतिभा के कवि भी थे और अपनी कविता के साहित्यिक महत्व के कारण (शृङ्गारिक होने पर भी) वे आज तक समादृत हैं। कालान्तर में उनका इतना प्रचार हो गया कि सामान्य कवि भी, जिनका दरबारों से कोई संबंध नहीं था, उनका अनुकरण करने लगे, और ब्रजभाषा काव्य में शृङ्गारिक कविता की बाढ़ सी आ गयी।

किन्तु वास्तविक जनता का साहित्य जो उस समय बना वह इस प्रकार के प्रभावों और बंधनों से मुक्त था। शासकों से दूर ये सन्त और कवि जनता की असहाय अवस्था से द्रवित होकर उसे 'निर्बल के बल राम' का उपदेश देकर, अपने काव्य में हिन्दू आदर्शों और चरित्रों का हृदयग्राही चित्रण करके तथा हिन्दू धर्म के ज्ञान, कर्म और भक्ति पर आधारित तात्विक मर्मों को जनता के लिए बोधगम्य और सरल भाषा में लिखकर तथा नीतिपरक छन्दों की

रचना करके तथा कलियुग के अत्याचारों के अन्त का संदेश देकर उसे साहस, आशा और शक्ति देने में लगे थे। उनकी कविताएँ अपने बल पर, हवा में उड़ते हुए बीजों की भाँति, दूर-दूर तक पहुँच गयीं और उन्होंने जनता के हृदय में अंकुरित और विकसित होकर उसे तत्कालीन अत्याचारों का साहस और धैर्य के साथ सहन करने का बल दिया।

इन कविताओं का राजधानियों और बड़े नगरों से दूर स्थित गाँवों में रहने वाली जनता में कितना प्रचार था, यह मेजर ब्रूटन के एक हिन्दी-कविता-संग्रह से मालूम होता है। मेजर ब्रूटन ईस्ट इंडिया कम्पनी के सैनिक आफिसर थे और सिंधिया की पराजय के बाद जब अंग्रेजी सेना ग्वालियर की मुरार नामक छावनी में रखी गयी तब वे उसमें नियुक्त हुए। उनकी पलटन में अवध और पूर्वी जिलों के सिपाहियों की संख्या अधिक थी। उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि कितने ही सिपाहियों को हिन्दी की कविताएँ कंठस्थ हैं, अतएव उन्होंने उनसे उन्हें लिखकर एक संग्रह तैयार किया। उनके संग्रह में जो हिन्दी कविताएँ हैं, उनका उन्होंने अंग्रेजी में अनुवाद भी किया जो Selections from the Popular Poetry of the Hindoos के नाम से सन् १८१४ में लन्दन से प्रकाशित हुआ—यद्यपि वे ग्वालियर में १८ वीं शती के अन्तिम चरण में नियुक्त थे और तभी उन्होंने उसका संग्रह किया था। अतएव १८ वीं शती के अन्त में इन कविताओं का गाँवों की जनता में कितना व्यापक प्रचार हो गया था, वह इससे स्पष्ट होता है। वे भूमिका के एक भाग में कहते हैं :

There is perhaps no set of men in India, better qualified to afford the kind of information, I sought for than the sipahees of our army. They include every class of Hindoos ; though by far the greater proportion belongs to the two higher orders of Brahamans and Rajpoots. They are commonly of Hindoostan, and often have received tolerably good education before they quit their homes. The

Brahmans specially are generally well versed in the common principles and ceremonies of their religion, and the historical legends connected with it when they enter as soldiers in the Company's army. They soon lose many of their earlier prejudices, become inquisitive respecting the manners and customs of the country of their officers, and are always willing to repay any information on such subjects, by communicating in return all that they know of their own. It was precisely from such a man that I obtained the greater part of the poems contained in this volume. I had remarked that talking upon any subject, he frequently quoted the verses of some favourite poet ; and one day, when he had done so with peculier emphasis, and had afterwards expatiated with evident delight upon their merit, I desired him to write them down and explain them to me. They were the dohras no. 1 and 2 .I thought I perceived so much simplicity and delicacy in the ideas, and such neatness in the points they contained, that I expressed a wish for further information respecting the dialect in which they were written and that he would make a collection for me of similar compositions. My new studies soon became known and many individuals of the same rank in life contributed to increase my stock by voluntary offers of all the information they possessed upon the subject........

I have generally observed that those Hindoos express themselves most elegantly and metaphorically who are born in villages most remote from large towns and the resorts of Europeans and Moosalmans. I once had a young Brahman, about fifteen years of age, who had not quitted his native village in a distant part of Oudh above four months,

interrogated by another why he was so late in re turning to camp. He had been at a Mela or fair held in the neighbourhood of Gwalior at which all the women of the city, young as well as old, appeared without reserve ; and when he was questioned,, '0' cried he in his Doric tongue, while an expression of pleasure sparkled in his fine hazel eyes, "Bahar ka lootat rahin." "I have been plundering the spring." Another time when I had reprimanded a lad about the same age, for calling a respectable elderly man old, who was very ambitious of appearing young. "Why" said he "his whiskers are like peooree"—threads of fresh spun cotton.

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि सुदूर गाँवों में रहने वाले लोगों में मुसलमान राज्य के अन्त और ब्रिटिश राज्य के आरम्भ में हिन्दी साहित्य की तत्कालीन कृतियों का काफी प्रचार था और वे ग्रामीण, जो योरोपियनों और मुसलमानों के प्रभाव से अछूते थे, शुद्ध और सहज एवं स्वाभाविक हिन्दी बोलते थे। उन लोगों में कैसे उच्च काव्य का प्रचार था, यह मेजर ब्रूटन के संग्रह से मालूम हो जाता है। जिन दो दोहों का उन्होंने संकेत किया है, वे बिहारी के थे। ब्रूटन ने संकलित छंदों का अनुवाद भी किया है। वे दोहे यह थे :

अति अगाध अति ऊथरौ नदी कूप सर बाय,
सो ताकों सागर जहाँ जाकी प्यास बुझाय।।

Deep or shallow let it be
River, streamlet lake or pool.
That to him is still a sea
Who there his parching thirst can cool.

हा हा बदन उघारि दृग सफल करें सब कोय,
रोज सरोजन कों परै, हँसी ससी की होय।।

Disclose thy lovely face, sweet maid,
And glad the eyes of all around.

No ; for the lily's bloom will fade
and taunts the vanquished moon confound.

एक और दोहा देखिए—

कन दीबौ सौंप्यौ ससुर, बहु थुरहथी जान,
रूप रहचटे लखि लग्यौ माँगत सब जग आन ।।

The frugal father's, sage command
Dealt, by his daughters smaller hands
His daily pittance to the poor.
Bad thirft,—her beauty to behold
In beggars' garb both young old
Come thronging round the crowded door.

बिहारी ही नहीं, इस संग्रह में देव, केशव आदि अनेक प्रतिष्ठित और साहित्य में श्रेष्ठ माने जाने वाले कवियों के छंद संकलित हैं। केशव का एक छंद देखिए। यह जीवित नरक का वर्णन है :

बाहन कुचाली, चोर चाकर, चपल चित,
मित्र मतिहीन, सूम स्वामी उर आनिए।
पर घर भोजन, कुपुर निवास बस,
कैशौदास बरषा प्रवास दुख दानिए।।
पापिन के संग अंग, अंगना अनंगवस,
अपजसजुत सुत, चित हित हानिए ।
मूरखता, बुढ़ाई, व्याधि, दारिद, झुठाई-याद,
ये ही हैं नरक, परलोक न बखानिए।।

Your beast perverse, your man a thief,
Your heart to amorous courses given,
Your friend a fool, your master mean,
Can greater plagues be sent by Heaven?
Dinner to seek abroad, a house
built in some little dirty town ;
Long journeys on cold rainy days
Are miseries all mortals own.

Yourself with wanton sporting oft,
while wife at home to love is given,
An itch to cheat, oppress or rob,
A child from whom your love you've driven.
Folly, old age, a sickly frame,
A lack of means, a memory gone ;
These, these are hell, a present hell,
Talk not of others still to come.

अब इस संग्रह के देव के एक छंद का नमूना भी देखिए। एक स्त्री के पास जिसका पति परदेस गया हुआ है, बसन्त के दिन मालिन बसन्त लेकर आती है। इस पर वह कहती है :

बाजत मृदंग, तार ढप घहरात, हौं तौ
प्रीतम बिछोहन की ज्वालन जरी मरौं।
गातीं कई फाग अनुराग भरे बैन, पापी
काम के सरन सों अपार पीर सौं मरौं।
कहैं कवि देव कोकिला कौ चहुँ सोर परौ,
छतियाँ चट टूक होत, धीरज कैसे धरौं।
ह्वैहैं जब कन्त, तब लैहौं री बसन्त, आज
कन्त बिन मालिन ! बसन्त लै कहा करौं।।

मैं इसका अनुवाद सुनाकर आपको बोर नहीं करना चाहता। इसमें अनेक और भी अधिक उच्च कोटि के छंद संकलित हैं, जो गाँवों में रहने वाले सामान्य लोगों के कंठ में उतर गये थे और उन्हें आनन्द देते थे। इन साहित्यिक महत्व के छंदों के अतिरिक्त इस संग्रह में कुछ उस समय के लोगों के लिए रोचक वर्णन और कविताएँ भी थीं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। एक मनुष्य परदेश जाने वाला था। उन दिनों न रेल थी, न बस, न तार और न डाक। पक्की सड़कें भी न थीं। चिट्ठियाँ आते-जाते लोगों और यात्रियों के द्वारा भेजी जाती थीं। उन दिनों यात्री यह न जानता था कि वह कब लौटेगा—या लौटेगा भी नहीं। अतएव उसने अपने आँगन में केवड़ा का एक झाड़ लगा दिया और पत्नी से कहा कि जब तक

वह हरा रहे तब तक समझना कि मैं सकुशल हूँ। वर्षों बीत गये। बेचारी पत्नी उस केवड़ा के झाड़ को सींचती और उसकी देख भाल करती रही। कई वर्ष बाद जब ये लौटे तो उन्हें उत्सुकता हुई कि देखें कि मेरी पत्नी किस तरह रहती है।

इसलिए वह जोगी का भेस बनाकर दरवाज़े पर पहुँचे जो खुला हुआ था। उन्होंने देखा कि पत्नी मलिन वेष में है और केवड़ा के झाड़ में पानी दे रही है। उनमें और उनकी पत्नी में जो बात हुई वह कवि ने इस प्रकार पद्यबद्ध कर दी:

पति—

चंद्र बदन मृग लोचनी! पवन झकोरत केस
तेरे आँगन है केवड़ा, तू क्यों मैले भेस?

पत्नी ने क्षुब्ध होकर कहा—

जरै बरै यह केवड़ा, जरै बरै यह देस,
जिन हाथन के केवड़ा वे छाय रहे परदेस।

तब पति ने अपने को प्रकट करते हुए कहा—

काहे कों जरै यह केवड़ा, काहे कों बरै यह देस
जिन हाथन के केवड़ा सो ठाड़े जोगी भेस।

तब पत्नी ने शिकायत करते हुए कहा—

कनक मोल कागज भयो, मसि भई मानिक तोल?
कलम भई कै लाख की कि लिखि न पठये द्वै बोल?

तब हज़रत ने बहाना किया—

थर-थर कंपौं लिखि न सकौं, अँग अंग उखाली आय,
सुधि आवत छाती फटै, पाती लिखी न जाय।

इसका अनुवाद आपको रोचक लगेगा। वह यह है:

"Say lovely moon; say deer-eyed maid
Whose locks like lilies wave in air.
While this green keora scorns to fade,
Say, why neglect a form so fair?"

"Oh ! the keora leaves were sere !
And would the village in ashes lay !
For he, whose false hands placed it here,
From love and me stays far away."

"And why the keora leave be sere,
Or, tell me why the village burned ?
For, he whose true hands placed it here,
Behold in beggar's garb returned."

"Was paper then more dear than gold,
Or ink more scarce than rubies bright?
Were slender reeds for thousands sold,
One line of love you could not write ?"

"I strove,—but only strove to sigh
When memory placed thee in my sight,
My fingers failed, my heart beat high,
I strove in vain, I could not write."

यह उदाहरण मैंने इसलिए दिया है कि उन दिनों भी केशव, देव, बिहारी आदि की भाँति कवि ऊँची कविता ही नहीं लिखते थे प्रत्युत तत्कालीन समाज के व्यक्तियों के सुख-दुख, आशा-निराशा भरे जीवन का चित्रण करने में नहीं चूकते थे।

अतएव आप समझ सकते हैं कि उन दिनों जब छापेखाने नहीं थे, पुस्तकें नहीं थीं, न पत्रिकाएँ ही थीं, ये उच्चकोटि की कविताएँ जनता की मानसिक और साहित्यिकी प्यास बुझाने और उनमें साहित्य के संस्कार उत्पन्न तथा दृढ़ करने की कितनी बड़ी, शक्तिशाली और सफल साधन थीं। उन दिनों यहाँके ग्रामीण इतने अपढ़ और असंस्कृत नहीं थे जितने कुछ लोग उन्हें समझते थे या आज भी समझते हैं। इसी रीति
रामचरित मानस छापेखानें के अभाव में भी उस प्रचारही
में सारे उत्तर भारत में फैलकर जनता का कंठहार
उत्तर भारत में हिन्दी ही नहीं, उसके उच्च
प्रचार का प्रमाण और कैसे दिया जाय?

होने, और यदि हिन्दी विरोधी नहीं तो हिन्दी निरपेक्ष शासकों के बावजूद, हिन्दी खूब फैल गयी थी। अतएव जब अंग्रेज़ी राज्य स्थापित हुआ और जब पुनर्जागरण के फलस्वरूप नयी चेतना के साथ आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरंभ हुआ तब देश में उसके लिये साहित्यिक जमीन तैयार थी।

पुस्तकों के सुलभ न होने से जनता के कंठ में कविता तो उतर सकती है, किन्तु गद्य कंठस्थ नहीं हो सकता। इसलिए गद्य बहुत पिछड़ा हुआ था। इसलिए ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के भी ग्रन्थ जो उस समय हिन्दी में बने, वे पद्य ही में थे। मेरे पास उस युग के ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं। किन्तु फिर भी कभी-कभी कोई व्यक्ति, जो या तो पद्य लिखने में असमर्थ थे, अथवा अन्य किसी कारण से गद्य में भी लिखते थे। किन्तु इनकी संख्या बहुत कम थी।

जब आधुनिक हिन्दी साहित्य का आरम्भ हुआ, उस समय हिन्दी लेखकों में धर्म और समाज संबंधी सुधार के कारण एक नयी जागृति पैदा हो गयी थी जिसने पुनर्जागरण का रूप ले लिया था। उस पुनर्जागरण से विचारशील लोगों में तीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुईं जो हिन्दी लेखकों को बराबर अनुप्राणित करती रहीं। वे तीन प्रवृत्तियाँ थीं: अतीत के प्रति मोह जिसके परिणाम स्वरूप अपनी तत्कालीन दयनीय दशा की प्राचीन गौरव से तुलना करने की प्रवृत्ति; सारे भारत को अपना देश समझ कर उसकी आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक उन्नति करने की उद्दाम अभिलाषा और अपनी भाषा से प्रेम। ये प्रवृत्तियाँ इस आरंभिक युग के साहित्य में पग-पग पर मिलती हैं। हिन्दी में सारे भारत को अपना, और एक देश, समझने के कारण उसके साहित्य में प्रान्तीयता नहीं आयी। किसी कवि या लेखक ने अपने निवास स्थान बिहार, मध्य प्रदेश, हरियाणा या उत्तर प्रदेश का गुणगान नहीं किया। उसकी दृष्टि सदैव सार्वभौमिक अर्थात् अखिल भारतीय रही। इसी प्रकार उसने देश प्रेम के नाम पर सारे भारत की दशा का वर्णन किया और अपनी गिरी हुई दशा की अतीत के गौरव से तुलना की, जिससे हिन्दीभाषियों में आत्मविश्वास

और आत्मगौरव की भावना और राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई। हम आधुनिक हिन्दी के गद्य साहित्य और विशेषकर काव्य को ठीक तरह तभी समझ सकते हैं, जब हम इन प्रवृत्तियों को ध्यान में रखें। वास्तव में उस समय जो धर्म पर इतना बल दिया गया उसके पीछे भी यही प्रवृत्ति काम कर रही थी कि हमारा धर्म सर्वोत्तम है क्योंकि वह हमारे गौरव को बढ़ाता है। उसने हमें हीनता की भावना का शिकार होने से बचाया जिससे हम विदेशी सांस्कृतिक और धार्मिक प्रहारों का सफलता से सामना कर सके। किन्तु 'हिन्दू' शब्द साम्प्रदायिकता का द्योतक न था। इसे स्पष्ट करते हुए भारतेन्दु ने अपने बलिया भाषण में कहा था, 'जो हिन्दुस्तान में रहे, किसी रंग जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है, हिन्दू की सहायता करो, बंगाली, मराठी, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मो सब एक दूसरेका हाथ पकड़ो।' भारतेन्दु की इस हिन्दू शब्द की व्याख्या में साम्प्रदायिकता का लेश नहीं और उन्हींकी व्याख्या के अनुसार हिन्दी साहित्य में हिन्दू शब्द का प्रयोग हुआ। उसे संकुचित और साम्प्रदायिक अर्थ में लेना मेरी दृष्टि में अनुचित है।

इस युग की दूसरी विशेषता यह है कि यह संघर्ष और भाषा संबंधी विवादों का काल था। ये संघर्ष और विवाद इतने महत्वपूर्ण थे कि इनके पूरे या संतोषजनक वर्णन के लिए इस छोटे से भाषण में न तो स्थान ही है और न समय। मैं यहाँ उनका संकेतरूप में केवल संक्षिप्त वर्णन ही करूँगा। पहिला संघर्ष तो हिन्दी और देवनागरी लिपि को स्कूलों और कचहरियों और राजकाज में स्थान दिलाने के लिए हुआ। दूसरा भाषा के रूप को लेकर हुआ—वह हिन्दुस्तानी या उर्दू प्रधान हो अर्थात् वह फ़ारसी-अरबी बहुल हो, या उसमें देशी शब्द और संस्कृत की सरल शब्दावली ली जाय। तीसरा विवाद बाद में कविता की भाषा को लेकर हुआ कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में कविता पुरानी प्रथा की तरह ब्रजभाषा में हो या खड़ी बोली में। अन्त में परिनिष्ठित हिन्दी में व्याकरण संबंधी कुछ वाद-विवाद हुए जो केवल साहित्यिकों में सीमित रहे।

पहिले संघर्ष की रूपरेखा इस प्रकार है। जब अंग्रेज़ों का राज्य

आरंभ हुआ, तब मुग़ल साम्राज्य की परिपाटी के अनुसार अधिकांश राजकाज फ़ारसी में होता था। अंग्रेज़ों का मत था कि फ़ारसी न तो शासकों की भाषा है और न प्रजा की। वह एक सर्वथा विदेशी भाषा है, जिसकी जड़ इस देश में नहीं है। अतएव उच्च स्तर के राज-काज में अंग्रेज़ी को स्थान देकर उन्होंने निम्न स्तर के राजकाज में स्थानीय देशी भाषाओं के प्रयोग करने का निर्णय किया। बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि में बंगला, मराठी और गुजराती आदि चलाने में कोई कठिनाई नहीं हुई, किन्तु बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पंजाब में कठिनाई हुई। यहाँका निम्नस्तरीय राजकर्म-चारी और कचहरियों का अमला फ़ारसी भाषा और फ़ारसी लिपि का अभ्यस्त था। अतएव उसने अंग्रेज़ अधिकारियों को बताया कि फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली फ़ारसी-अरबी बहुल हिन्दुस्तानी या उर्दू ही देश की भाषा है। इसका एक कारण यह भी था कि कचहरियों में प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द जैसे, मज़रा, असालतन, हालात वाक़ई, उमूर महम मुतल्लिके मुकद्दमा, हरगाह, इनफ़िसाल क़तई, जुमला, नीज़, इस्तदलाल, बरोज़ मज़कूर, मसमुआ, समाअत आदि उसकी जबान पर चढ़े थे और उसके लिए उनके हिन्दी पर्याय ढूंढना असम्भव था। फ़ारसी लिपि कचहरियों में शिकस्त या घसीट में लिखी जाती थी जिसे पढ़ना अन्य लोगों के लिए कठिन था, और इस कारण कचहरियों के अमले को गड़बड़ी करने और अपना उल्लू सीधा करने का बड़ा अवसर था। इन अमलों का समर्थन कितने ही अंग्रेज़ों ने भी किया क्योंकि तब तक फ़ारसी राजभाषा होने के कारण कम्पनी के अधिकारियों को फ़ारसी पढ़ना अनिवार्य था और वे यहाँकी भाषाओं में फ़ारसी ही जानते थे। मुसलमान तो इसके पक्ष में थे ही, किंतु कितने हिन्दू अधिकारी भी, जिनकी शिक्षा दीक्षा तब तक फ़ारसी ही में हुई थी, वे भी इसके समर्थक हो गये। अतएव हिन्दी क्षेत्रों में फ़ारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू, जिसमें फ़ारसी, अरबी के पारिभाषिक शब्द ही नहीं थे, बल्कि सामान्य शब्द भी फ़ारसी के ही लिखे जाते थे, चलने लगी। मैंने एक पुलिस रिपोर्ट में 'कुफ़्ल आहनी बोसीदा' के समान शब्द देखे हैं। मैं इनका

अर्थ नहीं समझा तो मुझे बतलाया गया कि इनका अर्थ 'लोहे के टूटे हुए ताले' से है। यहाँ तक कि सन् १९३८-३९ तक पुलिस और कचहरियों में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग होता था और हिन्दू नाम तक विकृत करके पढ़े जाते थे। इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी ने मेरे परम मित्र, भारत के सम्पादक पं० बलभद्रप्रसाद मिश्र के नाम एक बार पत्र भेजा। पता उर्दू में था। चपरासी ने पूछा—'बैल बहादुर मिश्रा' कहाँ मिलेंगे ?' एक बार पंडित सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' करवी के पास एक गाँव में अपने एक मित्र के पास कुछ दिन रहने को गये। द्वितीय महायुद्ध आरंभ हो गया था। कलकत्ते में एक दिन जापानी विमानों ने वहाँ एक बम छोड़ दिया। निरालाजी के मित्र इलाहाबाद में काम करते थे। वहाँ उनके एक मित्र ने जेवरों से भरा एक बक्स दिया और उनसे कहा कि शहर अब अरक्षित है। इसे आप अपने गाँव ले जाकर सुरक्षित रखिए। वे उसे ले गये और उसे अपनी बैठक में रख दिया, जिसमें निरालाजी ठहरे थे। गर्मियों के दिन थ। वे बाहर सोते थे। एक रात उस कमरे में सेंध लगी और बक्स उठ गया। पुलिस में रिपोर्ट हुई। संयोग से पुलिस इन्स्पेक्टर अपने लड़के या भतीजे को एल० टी० में भर्ती कराना चाहता था। उस समय मेरे एक रिश्तेदार करवी में प्रासिक्यूटिंग इन्स्पक्टर थे। वह थानदार उनका पत्र लेकर मुझसे मिलने आया। उसके मतलब की बात करन के बाद मैंने उससे पूछा कि क्या अमुक गाँव (जिसमें निरालाजी के मित्र रहते थे) आपके हलके में है ? उसने कहा जी हाँ। मैंने कहा कि वहाँ आजकल मर एक मित्र निरालाजी अमुक व्यक्ति के यहाँ ठहरे हैं, क्या आप उनसे मिले हैं? निराला नाम सुनकर वह चौकन्ना हुआ, और कुछ घबड़ाया भी। बड़े संकोच से बोला, "हजूर ! मैं तो चोरी के जुर्म में उनका चालान करने जा रहा हूँ" और यह कहकर उसने अपनी एटैची से एक फाइल निकाली और पढ़ने लगा, जिसका एक वाक्य मुझे कभी नहीं भूल सकता। उसमें निरालाजी के मित्र का नाम भी दिया था पर मैं उसे नहीं बतलाऊँगा। उसे 'अमुक' ही कहूँगा। वह वाक्य यह था "मुसम्मी अमुक वल्द अमुक कौम अमुकने बसाज़िश सुरैयाकान्ता तिरपाठी, जो अपनेको निराला कहता और

हिन्दी का शायर बतलाता है, मसनवी नक़ब लगा कर ज़ेवरात का एक बक्स जो अमानत की तौर पर उसे सौंपा गया था, ग़ायब कर दिया क्योंकि नक़ब का मलवा कमरे के अन्दर पड़ा था, और इन दोनों ने मिलकर माल फ़रामोश करके कहीं ग़ायब कर दिया।" कहने की आवश्यकता नहीं कि यह रिपोर्ट फ़ारसी लिपि में लिखी थी जिसके प्रताप से सूर्यकान्त त्रिपाठी "सुरैया कान्ता तिरपाठी" हो गये थे और 'सेंध' की जगह 'नक़ब', 'कवि' की जगह 'शायर', 'हटाने' की जगह 'फ़रामोश' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया था। यह भाषा सन् १९३९, ४० तक बाँदा ऐसे हिन्दी प्रधान बुन्देलखंड की पुलिस प्रयोग करती थी। किन्तु इन प्रान्तों की जनता को इस प्रकार की अदालती भाषा से अपार कष्ट था। अतएव वह कचहरियों में हिन्दी भाषा और दवनागरी लिपि के उपयोग की माँग करने लगी। एक और कठिनाई थी। इन प्रदेशों में (विशेषकर बिहार और उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तथा कहीं-कहीं अवध में भी) पटवारी आदि कैथी लिपि का प्रयोग करते थे। जो लोग फ़ारसी लिपि को हटाना चाहते थे, उनमें कितने ही कैथी के पक्षपाती थे। सर जार्ज ग्रियर्सन उन दिनों बिहार में अधिकारी थे। उन्होंने कैथी लिपि का परिष्कार करके उसके दोषों को दूर करके उसका सुधरा रूप बनाया भी। किन्तु बिहार में देवनागरी लिपि का समर्थन इतना प्रबल था कि वह अन्त में वहाँके राजकाज क लिए स्वीकार कर ली गयी और भाषा में भी कुछ सुधार हुआ, यद्यपि बहुत से पुराने फ़ारसी पारिभाषिक शब्द चलते रहे। मध्य प्रदेश (तत्कालीन सेण्ट्रल प्राविन्सेज़) के चीफ़ कमिश्नर ने आरंभ ही से देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा को राज-काज में प्रयुक्त करने के आदेश दे दिये थे। किन्तु उत्तर प्रदेश में मुसलमानों का बड़ा प्रभाव था और अमले में जो हिन्दू थे, वे अधिकतर कायस्थ थे, जिनमें मुग़लकाल से सरकारी सेवा में रहने की वंश-परम्परागत परिपाटी थी, और इस कारण उन्हें फ़ारसी और उर्दू से बड़ा मोह था। उनके विरोध के कारण यहाँ कचहरियों में उर्दू चलती रही। कायस्थों की उर्दूप्रियता उस समय इतनी प्रसिद्ध थी कि प्रताप नारायण मिश्र ने अपनी 'तृप्यताम्' नामक कविता में व्यंग्य करते हुए

चित्रगुप्त के तर्पण में लिखा था :

"देख तुम्हारे फ़र्ज़न्दों का तौरो-तरीक़ तुआमो-कलाम
बिन्ती किस विध करूं तुम्हारी अक़ल नहीं कुछ करती काम
आबे-गंग नज़र गुज़राऊं या कि मए-गुलगूँ का जाम
मुन्शी चितरगुपत साहब ! तसलीम करूं या तिरपिन्ताम्?"

किन्तु विचारशील और प्रगतिशील कायस्थ उस समय भी हिन्दी के पक्षपाती थे। उदाहरण के लिए हन्टर कमीशन के सामने गवाही देते हुए उसके एक सदस्य जस्टिस महमूद की प्रान्त की भाषा संबंधी जिरह का उत्तर देते हुए मुन्शी हनुमानप्रसाद, प्लीडर, हाई कोर्ट, इलाहाबाद ने कहा था :

Syed Mahmood—What language do you recognise as the vernacular of N. W. Provinces generally ?

Munshi Hanuman Prasad—I mean Hindi, not Urdu which indudes Persian and Arabic words. In conversation with clients from the villages, we find that they understand Hindi better. When Urdu or rather Persian and Arabic words are used, they cannot understand them. I would recommend the use of Deva Nagari characters for the use of Hindu students.

हंटर कमीशन के सामने कितने ही बंगालियों एवं सभी वर्ग के हिन्दुओं और एक दो मुसलमानों ने भी स्वीकार किया कि यहाँकी लोकप्रिय भाषा हिन्दी है, किन्तु राजनीतिक कारणों से कमीशन ने इस समस्या पर अपना कोई निर्णय नहीं दिया। हिन्दी और देवनागरी के लिए आन्दोलन चलता रहा।

यहाँ क्षेपक की तरह यह मनोरंजक बात बतलानी आवश्यक है कि हंटर कमीशन के हिन्दी की समस्या पर मौन रहने से हिन्दी प्रेमियों में तीव्र असंतोष हुआ। यहाँ तक कि पं० श्रीधर पाठक के समान संयत और गंभीर व्यक्ति भी विचलित हो गये। वे कभी उर्दू

में नहीं लिखते थे किंतु उन्होंने उर्दू में एक ग़ज़ल लिखी—शायद इसलिए कि उर्दूवालों को हिन्दीवालों की भावना मालूम हो जाय। यह ग़ज़ल पाठकजी ने बिना अपना नाम दिये छपवायी थी। वह ग़ज़ल यह है:

ऐ जान हिन्दी, ऐ जान हिन्दी, हमारी प्यारी ज़बान हिन्दी
थी पहिले हमको उमीद कामिल, ख़याल हंटर को कुछ तो होगा,
मगर वो धोखे की टट्टी निकली, गंवाया सारा गुमान हिन्दी।
हुआ न पूरा कोई भी अर्मां, बरन गई खुद वो आप शर्मां,
रही फ़तहयाबी उर्दू ही की, हुई मुफ्त में हैरान हिन्दी।
कई करोड़ों हैं बसते हिन्दू, जो मुल्क पंजाबो मग़रबी में
थी सबकी मर्ज़ी अदालतों में हो जाये जारी ज़बान हिन्दी।
हुरूफ़ इसके हैं साफ़ इतने, नहीं ज़रा सी भी होवे ग़ल्ती
औ समझी जाती है हिंद भर में, सभी ये जानें, ज़बान हिन्दी।
मगर है उर्दू ही जिनको प्यारी, करेंगे हिन्दी की खूब ख़्वारी,
पड़ी है आफ़त में आके भारी, लबों पै आयी है जान हिन्दी।
ये मुल्क हिन्दुस्तान अब नहीं है, अगर्चे हिन्दू तो हम सही हैं,
मगर ये उर्दू से आशिकों के रही है फँस दर्मियान हिन्दी।
निकालो उर्दू को जल्द यकदम, डरो न हिन्दू ज़रा भी अब तुम
हमेशा चमकेगी ये ही हर दम ज़बाँ पै सबके ज़बान हिन्दी।

मुसलमानों ने उर्दू को अपनी ज़बान घोषित कर भाषा के रूप में हिन्दी का अस्तित्व भी स्वीकार करने से इनकार कर दिया था। स्वयं सर सैयद अहमद उसे Vulgar या गंवारू बोली बतलाते थे। उसकी प्रतिक्रिया में और वास्तविकता होने के कारण हिन्दी को हिन्दुओं ने अपनी भाषा मान लिया था और बहुसंख्यक होने के कारण कचहरियों में उसके उपयोग की माँग कर रहे थे। जब पाठकजी ऐसे गंभीर और संयत व्यक्ति में इतना आक्रोश था तो सामान्य हिन्दी-भाषी जनता की भावना की कल्पना की जा सकती है। किन्तु हंटर कमीशन के इस समस्या पर मौन रहने के बावजूद कचहरियों और राजकाज के निम्नस्तर पर हिन्दी और देवनागरी लिपि के वैकल्पिक उपयोग के

अधिकार के लिए आन्दोलन चलता रहा, जिसका आरंभ भारतेन्दु ने किया था। उन्होंने हंटर कमीशन के सामने जो साक्ष्य दिया था, वह बहुत महत्वपूर्ण है। उन्हींकी प्रेरणा से सारे प्रान्त में हिन्दी आन्दोलन ने जोर पकड़ा था। उनकी मृत्यु के बाद भी वह आन्दोलन चलता रहा। तत्कालीन अयोध्या नरेश महाराज प्रताप सिंह, कालाकांकर के महाराज रामपाल सिंह, अलीगढ़ के बाबू तोताराम आदि इसके नेता थे। बाद में महामना मालवीयजी इस आन्दोलन के नेता हुए। तब तक काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना हो गयी थी और मालवीयजी की अध्यक्षता में एक शिष्टमंडल तत्कालीन छोटे लाट सर एन्थनी मेकडानल से मिला। इस प्रान्त में तब तक जो छोटे लाट आये थे उनमें वे पहिले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी के प्रति सहानुभूति दिखलायी। मुसलमान स्वभावतः इस आन्दोलन का विरोध कर रहे थे। किन्तु सर एन्थनी इस मत के थे कि बहुसंख्यक हिन्दुओं की लिपि देवनागरी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पर यह विषय राजनीतिक बन चुका था और मुसलमानों का विरोध प्रबल था। इसलिए वे बिना भारत सरकार की स्वीकृति के कोई आदेश नहीं दे सकते थे। उस समय लार्ड कर्ज़न भारत के वायसराय थे। यह मामला उनके पास गया। लार्ड कर्ज़न के बारे में भारतवासियों की राय बहुत अच्छी नहीं है, पर यह कहना पड़ेगा कि उन्होंने इस समस्या पर तटस्थता से विचार कर न्याय किया और देवनागरी के प्रति अपनी सहानुभूति दिखलायी। सर एन्थनी ने अपने ज्ञापन में हिन्दुओं की इस माँग का मुसलमानों द्वारा विरोध किए जाने की बात स्पष्ट रूप से लिख दी थी, किन्तु फिर भी, उन्होंने कचहरियों में देवनागरी को वैकल्पिक लिपि के रूप में स्वीकार करने की सिफारिश की थी। डाक्टर एस० गोपालन ने अपनी पुस्तक (British Policy in India, १८८५-१९०५) के पृष्ठ २५९ पर लिखा है कि लार्ड कर्ज़न ही एक ऐसे वायसराय थे जिन्होंने हिन्दी के महत्व को समझा। उन्होंने सर एन्थनी मेकडानेल की सिफारिश को स्वीकार कर लिया। सर एन्थनी ने मुस्लिम विरोध की बात लिखी थी। इसपर लार्ड कर्ज़न ने लिखा था :

The howls of Mussalmans merely represent the spleen of a minority from whose hands are slipping away the reins of power and who clutch at any method of arbitrarily retaining them.

भारत सरकार की अनुमति मिलते ही अप्रैल १९०० में सर एन्थनी ने देवनागरी का वैकल्पिक प्रयोग कचहरियों और निम्नस्तर के राजकाज में करने का आदेश दे दिया। इसके अनुसार कचहरियों के कागज़, जैसे सम्मन आदि, दोनों भाषाओं में लिखकर देने के आदेश दिये गये और सरकारी कर्मचारियों को देवनागरी लिपि और हिन्दी सीखने की भी सलाह दी गयी। इस प्रान्त में हिन्दी को राजभाषा बनाने में यह पहिली विजय थी। सर एन्थनी मेकडानेल ने हिन्दी का जो हित किया वह नहीं भुलाया जा सकता। महामना मालवीयजी जानते थे कि मैकडानेल ने इस प्रान्त के हिन्दुओं की भाषा की कितनी महत्वपूर्ण सेवा की है। इसीलिए जब प्रयाग में उन्होंने हिन्दू बोर्डिग बनाया तो उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसका नाम मैकडानैल हिन्दू बोर्डिग हाउस रखा। किन्तु नयी पीढ़ी में कृतज्ञता नहीं थी, और उसने मैकडानैल का नाम उसी तरह हटा दिया जिस तरह काँग्रेस के पिता ह्यूम का नाम इटावे के गवर्नमेंट ह्यूम हाई स्कूल से हटा दिया गया था।

देवनागरी के स्वीकार किये जाने पर भी हिन्दुओं और हिन्दी-प्रेमी जनता की अकर्मण्यता के कारण उस अधिकार का प्रयोग बहुत कम किया गया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने राजर्षि टंडनजी की प्रेरणा स वैतनिक हिन्दी अर्जीनवीसों की नियुक्ति की योजना चलायी, जो जनता की अर्जियाँ बिना कुछ लिए लिख देते थे। किन्तु वकीलों और अमला के विरोध एवं असहयोग के कारण पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़कर मैदानी क्षेत्रों में वह बहुत चल न सकी। फिर भी उसे कचहरियों में प्रवेश का अधिकार मिल गया जो स्वयं में एक बड़ी बात और हिन्दी आन्दोलन की पहिली बड़ी सफलता थी।

अंग्रेज़ों ने पंजाब प्रान्त बनाया था। उसमें दिल्ली के अतिरिक्त ४ भाग थे—पश्चिमी सीमान्त, जिसकी भाषा पश्तू है; मुख्य

पंजाब, जिसकी भाषा पंजाबी; पहाड़ी प्रदेश, जो अब हिमाचल प्रदेश कहलाता है, और हरियाना। पिछले दोनों प्रदेशों की भाषा हिन्दी थी। दिल्ली, लाहौर, पेशावर का यह क्षेत्र सबसे अधिक समय तक मुसलमानी शासन में रहा था और यहाँ मुसलमानों का वर्चस्व सबसे अधिक दिनों रहा। अतएव यहाँ फ़ारसी लिपि एवं फ़ारसी भाषा और बाद में उर्दू का बहुत व्यापक प्रचार था। पंजाब और सीमान्त प्रदेश में हिन्दू अधिकतर शहरों में रहते थे, रोजगार या नौकरी करते थे और उन्हें अपने काम के लिए पहिले फ़ारसी और फिर उर्दू पढ़ना आवश्यक था, किन्तु फिर भी सिक्खों में गुरमुखी लिपि का व्यापक प्रचार था, और चूंकि गुरुग्रन्थ साहब के अधिकांश शब्द ब्रजभाषा या हिन्दी की अन्य शैलियों में हैं, वहाँ हिन्दुओं, नानक पंथियों, सिक्खों में हिन्दी का भी प्रचलन था। कितने ही पंजाबीभाषी ब्रजभाषा में कविता करते थे और सिक्ख दरबारों में भी हिन्दी कवियों का आदर था। किन्तु सिक्ख हिन्दी को अधिकतर गुरमुखी लिपि में लिखते थे। इस कारण बहुत से पंजाब में निर्मित हिन्दी साहित्य से हमारा परिचय नहीं हो पाया। अब इधर ध्यान गया है और कुछ वर्षों से गुरमुखी में लिखी ब्रजभाषा कृतियों की खोज और अध्ययन आरम्भ हो गया है। पहाड़ी राजा हिन्दी और देवनागरी लिपि का ही प्रयोग करते थे। वहाँ कांगड़ा शैली के जो चित्र बने वे सब ब्रजभाषा काव्य पर आधारित हैं। श्री रनधावा बिहारी सतसई पर बने कितन ही चित्रों को प्रकाश में लाये। मैंने कितने ही कांगड़ा शैली के चित्र देखे हैं, जिनकी पीठ पर वे ब्रजभाषा के छन्द सुन्दर देवनागरी लिपि में लिखे हैं, जिन पर वे आधारित हैं। इनके अतिरिक्त मैंने कई चित्र देखे जिनमें छंद गुरमुखी में लिखे हैं। मेरे पास कांगड़ा शैली का गोचारण से लौटते हुए श्री कृष्ण का एक चित्र है। उसमें गुरमुखी में कुछ लिखा था। मैंने उसे एक सिक्ख से पढ़वाया तो यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वह गुरमुखी में लिखा छंद विशुद्ध ब्रजभाषा में है। वह छन्द यह है:

तेज सूर से अपार, चन्द्रमा से सुकुमार,
संभु से उदार, वहि उर धरियत है।

इन्द्र जैसे प्रभु पूरे, रामजी से रन सूरे,
　　　　काम हूँ तें रूप रूरे, हिय हरियतु है।
सागर से धीर, गनपति से चतुर,
　　　　चितवत जो विवेकी कैसे दिन कटियतु है।
मंदमति महा, जसुदा सों कहों कहा ?
　　　　ऐसे पूत पाय पसुपाल करियतु है।

यह संतोष और हर्ष की बात है कि हरियाना और पंजाब के कितने ही आधुनिक विद्वान और शोधकर्ता गुरमुखी में लिखे इस हिन्दी साहित्य की खोज, संग्रह, लिप्यान्तर, सम्पादन और प्रकाशन में लगे हुए हैं। अभी तक जो कार्य हुआ है, वह आरंभिक ही है, फिर भी इससे स्पष्ट है कि पंजाबीभाषी पंजाब के भाग में ब्रजभाषा का कितना व्यापक प्रचार था। आज राजनीतिक कारणों से पंजाब में भाषा समस्या खड़ी हो गयी है, किन्तु पंजाब का सिक्ख भी ब्रजभाषा का विरोधी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके धार्मिक ग्रन्थ जैसे श्री गुरु ग्रन्थ साहब, जापुजी आदि में जो शब्द हैं, उनका मूल रूप या कम से कम ढाँचा ब्रजभाषा ही का है। वे शवदों में आये हुए ब्रज-भाषा या संस्कृत शब्दों का उच्चारण पंजाबी ढंग से करते हैं। इससे कभी-कभी उन्हें पहचानने में कठिनाई होती है।

किन्तु इतना सब होते हुए भी राजभाषा फ़ारसी के अपदस्थ होने पर वहाँ फ़ारसी लिपि में लिखी उर्दू राजभाषा के रूप में चलन लगी। इतना ही नहीं, वहाँ प्राथमिक कक्षाओं में भी केवल उर्दू पढ़ायी जाने लगी। मुसलमानों और तत्कालीन प्रभावशाली संभ्रान्त हिन्दुओं को भी परम्परा से चली आती राजभाषा की लिपि के उपयोग में सुविधा थी। राजधानी लाहौर पंजाब में थी, इसलिए शासन पर प्रभाव पंजाबी हिन्दू, मुसलमान सामन्तों और आभिजात्यवर्ग का था। अतएव जैसे गेहूँ के साथ घुन पिस जाता है, वैसे ही पंजाब के साथ रहने के कारण हरियाना और हिमाचल प्रदेश के राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े और प्रभावहीन क्षेत्रों में भी राजकाज और प्राइमरी स्तर से ही शिक्षा का माध्यम एकमात्र उर्दू कर दी गयी। दुर्भाग्य

से न वहाँ भारतेन्दु के समकक्ष कोई व्यक्ति हुआ और न अधिकारी-वर्ग में पुण्यश्लोक भूदेव मुकर्जी या राजा शिवप्रसाद की तरह का ही व्यक्ति पैदा हुआ। अतएव वहाँ विभाजन तक उर्दू चलती रही। हिन्दी की चेतना पंजाब में स्वामी दयानन्द के द्वारा उत्पन्न की गयी, और उसके प्रचार तथा उसकी प्रतिक्रिया में सनातनधर्म के कार्य-कर्त्ताओं के कार्य ने हिन्दू पंजाबी जनता में हिन्दी का प्रचार किया और उसके लिये भावना उत्पन्न की।

किन्तु आश्चर्य की बात है कि पंजाब में उर्दू के व्यापक प्रचार क बावजूद वहाँ हिन्दू महिलाएँ हिन्दी और देवनागरी लिपि ही सीखती थीं। पंजाबी ही नहीं, पंजाब में बसे कश्मीरियों की महिलाएँ भी हिन्दी ही पढ़ती थीं। हंटर कमीशन के समक्ष केनिंग कालेज के एक अध्यापक पं० प्राणनाथ की साक्ष्य इस संबंध में उल्लेखनीय है। वे कश्मीरी ब्राह्मण थे और पंजाब से भी उनका निकट सम्पर्क था। कश्मीरियों के विवाह संबंध बहुधा अपनी जाति में पंजाब में होते थे। उन्होंने अपने साक्ष्य में कमीशन के सामने कहा था :

Among Cashmiri Pandits all girls can read and write Hindi very freely, though our vernacular is Urdu. There are very few of our females that can read Urdu books. They read a few Sanskrit religious books and can recite Sanskrit Shlokas without understanding their meaning.

इस प्रकार पंजाब में यद्यपि गृहणियों ने हिन्दी को जीवित रखा तथापि पढ़े-लिखे पुरुषों में स्वतंत्रता प्राप्ति तक उर्दू का ही प्रचार रहा और उसके अवशेष अब भी वर्तमान हैं। पुनर्जागरण से आर्य समाज और सनातन धर्म सभाओं के विद्यालयों में हिन्दी चलने लगी। इसके लिए भी उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा। पंजाब के साथ हिन्दीभाषी हिमाचल और हरियाना की भी यही दशा रही।

पंजाब प्रान्त में बहुत से उन हिन्दुओं को भी, जिनकी मातृभाषा हिन्दी थी, सरकारी स्कूलों में विवश होकर उर्दू पढ़नी पड़ती थी।

किन्तु अधिकांश ब्राह्मण, जिन्हें सरकारी नौकरी की इच्छा न थी, सरकारी स्कूलों में न पढ़ कर संस्कृत और हिन्दी पढ़ते थे। उर्दू पढ़ने वाले अनेक हिन्दू बाद में हिन्दी भी पढ़ लेते थे और उनमें कितने ही हिन्दी के लेखक भी हुए। बाबू बालमुकुन्द गुप्त का उदाहरण सामने है, जो भारतमित्र के प्रसिद्ध सम्पादक हुए। वे आरम्भ में उर्दू ही पढ़े थे और उर्दू के पत्रकार भी रहे थे।

दूसरा विवाद स्कूलों में भाषा के रूप पर था। हल्काबन्दी स्कूलों के कारण प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी को स्थान मिल गया था, जिनका विवरण आगे दिया जायगा। किन्तु कचहरियों की राजभाषा उर्दू होने के कारण तथा मुसलमानों के आग्रह के कारण मिडिल तथा अन्य संस्थाओं में उर्दू ही माध्यम थी। उदाहरण के लिए, रुड़की क ओवरसीयर क्लास की पढ़ाई उर्दू ही में होती थी, तथा कानूनगो आदि के स्कूलों में भी उर्दू ही शिक्षा का माध्यम थी। हिन्दी द्वितीय वैकल्पिक भाषा के रूप में अनेक मिडिल स्कूलों में पढ़ाई जाती थी। इसलिए प्राइमरी के ऊपर के स्तर की शिक्षा के लिए उर्दू अनिवार्य समझी जाती थी क्योंकि मिडिल पास करके उन्हें सरकारी दफ्तरों में उर्दू में काम करना अनिवार्य था। बिहार में पुण्यश्लोक श्री भूदेव मुकर्जी के प्रयास से सभी प्राइमरी और मिडिल स्कूलों में हिन्दी चल गयी थी। उत्तर प्रदेश में स्थिति विषम थी। उस समय राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द बनारस के इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स थे। उन्होंने सिक्ख युद्ध में अंग्रेज़ों की बड़ी सेवा की थी और अंग्रेज़ सरकार में उनका बड़ा मान था। उसने उन्हें 'राजा' की उपाधि दी थी। वे व्यावहारिक व्यक्ति थे। यद्यपि वे स्वयं वही हिन्दी लिखते थे जो उनके शिष्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखते थे, तथापि उन्होंने उस समय की राजनीतिक स्थिति देख कर यह समझा कि उर्दू भाषा को हटाकर उस समय सब विषयों में हिन्दी को लाना व्यावहारिक नहीं है। अतएव उन्होंने एक चतुर राजनीतिज्ञ की तरह भाषा पर जोर न देकर देवनागरी लिपि के प्रयोग के लिए प्रयत्न किया कि जो विद्यार्थी उसमें पढ़ना चाहे उन्हें छूट रहे। यद्यपि उर्दू हिमायतियों द्वारा इसके लिए भी उनका कड़ा विरोध हुआ तथापि उन्होंने अपने पक्ष को इस योग्यता

स अंग्रेज़ अधिकारियों के सामने रखा, और उन पर उनका इतना प्रभाव था कि तत्कालीन सरकार ने उनकी बात मान ली। तब देवनागरी में पुस्तकों के लिखने की कठिनाई का प्रश्न उठा, जो प्रत्येक भाषायी परिवर्तन के विरोध में उठाया जाता है। आज के अंग्रेज़ीपरस्त वही पुराना तर्क दुहराते नहीं चूकते। तब उन्होंने स्वयं पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का बीड़ा उठाया। उन्होंने १८६४ में इतिहास तिमिर नाशक नामक मिडिल स्कूलों के लिए इतिहास देवनागरी लिपि में, और उर्दू में यही पुस्तक उर्दू नाम से लिखी। दोनों की भाषा एक है। देवनागरी संस्करण में ख़ुदा की जगह ईश्वर, तवारीख़ की जगह इतिहास आदि प्रायः २० शब्द हिन्दी के हैं, शेष उर्दू के। उस पुस्तक की भाषा का उदाहरण देखिए :

"मुइज़जुद्दीन क़ैकुवाद"

इसकी उमर अठारह बरस की थी यक बारगी ऐश में डूब गया। पहले अपने चचेरे भाई कैखुसरो को क़त्ल किया और फिर बहुत से अमीरों का सिर कटवाया, मस्जिद और मन्दिरों में भी वाहियात और तमाशबीनी होने लगी। सारी दिल्ली भांड़ भगतियों, ढाढ़ी, कत्थक, कसबी, भड़ुवों इसी किस्म के आदमियों से भर गयी। जब इसका बाप करा खां बंगाले का सूबेदार समझाने और नेक नसीहत देने को आया, यह उससे लड़ने के इरादे पर फौज लेकर निकला। और फिर जब इसके दरबार में हाजिर हुआ तो यह पत्थर की तरह तख्त पर बैठा रहा और अपने बाप को तीन-तीन बार जमीन चूमते और आदाब बजा लाते देखकर ज़रा भी न हिला। आखिर जब चोबदार पुकारा 'करा खां रूबरू जहांपनाह सलामत।' करा खां से न रहा गया। ढाढ़ मार कर रोने लगा। तब तो क़ैकुबाद के दिल पर ग़ैरत ने असर किया। तख्त से उतर कर बाप के क़दमों पर गिर पड़ा और हाथ पकड़ कर अपने बराबर बिठा लिया। करा खां ने दास्तान सुने और नसीहत करने का फाइदा न देखकर उलटे पांव अपने सूबे का रास्ता लिया।'

चूंकि हल्काबंदी प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी भाषा के रूप में पढ़ाई

जाती थी, इसलिए मिडिल में आने पर उन्हें भाषा के रूप में हिन्दी पढ़ने की आज्ञा दे दी गयी थी क्योंकि वे एकदम मिडिल स्तर की उर्दू नहीं पढ़ सकते थे। किन्तु इन हिन्दी विद्यार्थियों के लिए जो हिन्दी रीडरें तीन भागों में गुटका के नाम से, राजा साहब ने लिखीं, वे विशुद्ध हिन्दी में थीं, जिनमें लल्लू लाल का प्रेमसागर, रामायण का बालकांड, सभाविलास नामक लल्लू लाल का हिन्दी दोहों का संग्रह, लक्ष्मण सिंह के शकुंतला नाटक के कुछ अंश आदि थे, वे विशुद्ध हिन्दी में थे। इस प्रकार राजा शिवप्रसाद ने मिडिल स्कूलों में हिन्दी का प्रवेश कराया और जब ये विद्यार्थी ऐन्ट्रेन्स में पढ़ने गये तो विश्व-विद्यालय को, जो उन दिनों ऐन्ट्रेन्स की परीक्षा लेता था, उनके लिए हिन्दी भाषा की पुस्तकें स्वीकार करनी पड़ीं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि इस प्रान्त में १९१० तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय एन्ट्रेन्स या मैट्रिक की परीक्षा लेता था। किन्तु इसमें हिन्दी अनिवार्य विषय न था। वह वैकल्पिक था। बाद में जब शिक्षा विभाग ने इस सिद्धान्त के आधार पर कि माध्यमिक शिक्षा उसके अधिकार क्षेत्र में है, विश्वविद्यालय के क्षेत्र में नहीं, तब उसने स्कूल लीविंग सर्टि-फिकेट (एस० एल० सी०) परीक्षा चलायी जिसमें हिन्दी या उर्दू लेना अनिवार्य कर दिया गया था। यह सरकार द्वारा उच्च माध्यमिक शिक्षा में देशी भाषाओं की प्रथम बार मान्यता थी। उत्तर प्रदेश की माध्यमिक शिक्षा में हिन्दी के प्रवेश का यह संक्षिप्त इतिहास है। इसी कारण नार्मल स्कूलों में भी हिन्दी को स्थान देना पड़ा। यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि नौकरी की दृष्टि से मिडिल में हिंदी पढ़ने वाले छात्रों को कुछ निम्नस्तर की उर्दू पढ़ायी जाती थी जो काम चलाऊ होती थी।

प्राइमरी स्कूलों में हिन्दी को पहिल ही से अपने-आप स्थान मिल गया था। इसका श्रेय न सरकार को था और न किसी आन्दो-लन को। इसका इतिहास बड़ा मनोरंजक है।

उत्तर प्रदेश में हल्काबंदी स्कूलों की प्रणाली प्रथम स्वतंत्रता संग्राम या गदर स कुछ वर्ष पूर्व आरंभ हुई। इसका आरंभ मथुरा में

एलेक्जेंडर नाम के एक कलक्टर ने किया था। इसका प्रयोग शिमला-में एलेक्जेंडर साहब और राजा शिवप्रसाद कर चुके थे। अंग्रेज़ी राज्य उत्तर भारत में फैल गया था। आरंभ में अंग्रेज़ अधिकारियों का सारा ध्यान कानून और व्यवस्था और मालगुजारी के प्रबन्ध पर केन्द्रित रहा। बाद म जब कुछ स्थिरता आ गयी, और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में पार्लियामेंट ने अंग्रेज़ अधिकृत भारत में शिक्षा के लिए कुछ राशि स्वीकृत की, तब शिक्षा विभाग की स्थापना हुई। किन्तु उस समय प्राथमिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया गया। उस समय प्राचीनकाल से देश में कस्बों और गाँवों में पंडित, मुंशी या मौलवी किसी धनी व्यक्ति के कहने से, या स्वयं ही, कुछ लड़कों को एकत्र कर अपने मन से पढ़ाते थे। जिस भाषा की उनमें शिक्षा दी जाती थी, उसके अनुसार उन्हें पाठशाला, चटशाला, मकतब या मदरसा कहा जाता था। अधिकांश संख्या पाठशालाओं या चट-शालाओं की थी। इनमें केवल कुछ व्यावहारिक आरंभिक गणित-की शिक्षा और देवनागरी अक्षर ज्ञान मात्र कराया जाता था। ऐसी पाठशालाओं की संख्या बहुत थी। मकतबों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। एलेक्जेंडर साहब ने देखा कि जिले में ऐसी सैकड़ों पाठ-शालाएँ हैं किन्तु उनमें शिक्षा का क्रम अस्त-व्यस्त और स्तर बहुत निम्न कोटि का है। उन्होंने उनके सुधारने का संकल्प किया, किन्तु इसके लिए रुपये की आवश्यकता थी। सरकार स प्राथमिक शिक्षा के लिए उस समय धन नहीं मिलता था। अतएव उन्होंने जिले के जमींदारों से कहा कि तुम लोग इस काम के लिए मालगुजारी जमा करते समय प्रति सौ रुपये पर आठ आना अतिरिक्त धन दिया करो। उन दिनों कलक्टर की बात को कौन जमींदार टाल सकता था? और जिले की कई लाख की मालगुजारी के साथ प्रतिवर्ष शिक्षा के लिए कई हजार रुपये मिलने लगे। एलेक्जेंडर साहब ने इन पाठशालाओं के अध्यापकों से कहा "हम तुम्हें दो रुपये से पाँच रुपये तक मासिक सहायता दिया करेंगे, किन्तु शर्त यह होगी कि तुम हमारी बनायी हुई पुस्तकें पढ़ाओ और हमारी ओर से जो व्यक्ति तुम्हारी पाठशाला का परिदर्शन (Visit) करने आवें, उन्हें पाठशाला का

कार्य देखने दो, जिससे हमें मालूम हो कि पाठशाला में ठीक काम हो रहा है।" उन दिनों (१८४० के लगभग) जब पैसे की कौन कहे, कौड़ियाँ चला करती थीं, दो रुपये का बहुत मूल्य होता था क्योंकि उन दिनों अधिकांश जनता के उपयोग की सामान्य आवश्यकताओं की चीजों का मूल्य दमड़ी, छदाम आदि में कौड़ियों द्वारा दिया जाता था। उस स्थिति में पूरे एक पैसे का भी मूल्य अधिक था। सारे जिले की पाठशालाओं के अध्यापक इन शर्तों को मान गये। एलेक्जेंडर साहब ने कुछ पढ़े लिखे लोगों को नियुक्त किया। एक-एक व्यक्ति को एक परगने की पाठशालाओं को देखने का भार दिया गया और उसके पद का नाम 'परगना विज़ीटर' रखा गया, और उनके ऊपर उनका काम देखने को सारे जिले के लिए जो व्यक्ति रखा गया वह 'जिला विज़ीटर' कहलाया। एलेक्जेंडर साहब ने कुछ प्राइमर और अत्यन्त आरंभिक पुस्तकें तैयार करायीं जो मुफ्त दी जाती थीं और वे इन पाठशालाओं में चलने लगीं। यह प्रयोग इतना सफल हुआ कि आस पास के अन्य जिलों ने भी उसका अनुकरण किया। बाद में यह प्रणाली, जिसे हल्काबंदी कहते थे, सारे प्रदेश में फैल गयी। आगे चलकर जब स्थानीय संस्थाएँ बनीं तो उन्होंने अपने प्राइमरी स्कूल खोले, और धीरे-धीरे ये निजी पाठशालाएँ समाप्त हो गयीं। किन्तु चूंकि इनमें अधिकांश लड़के देवनागरी और उसमें लिखी हिन्दी पढ़ते थे, इसलिये इनमें और इनके उत्तराधिकारी जिला बोर्डों के प्राइमरी स्कूलों में देवनागरी में लिखित हिन्दी ही अधिकतर चलती थी, और इस प्रकार उनमें हिन्दी का पठन-पाठन परम्परा के कारण चलता रहा। सरकार को यह निर्णय नहीं करना पड़ा कि इनम हिन्दी पढ़ायी जाय या उर्दू, जैसा कि पंजाब में हुआ। जब प्राइमरी स्कूल बढ़े, तब उनकी उच्चतम श्रेणी से उत्तीर्ण बालकों में से कुछ आगे पढ़ने के इच्छुक मालूम हुए। सरकार को भी अपने विस्तारशील दफ्तरों और कचहरियों के वर्नाक्यूलर विभाग के लिए प्राइमरी से कुछ अधिक ज्ञान रखनेवाले अमलों की दरकार थी। अतएव मिडिल या टाउन स्कूल खुले। प्राइमरी स्कूलों की अन्तिम श्रेणी का स्तर बनाये रखने के लिए जिला विज़ीटर उनकी परीक्षा लेता था। वह

प्रत्येक प्राइमरी स्कूल में नहीं जा सकता था। अतएव परीक्षा के लिए एक केन्द्रीय गाँव के आस-पास के कुछ स्कूलों का एक समूह या 'हल्का' बना दिया गया। इस बीच 'विज़ीटर' की जगह 'इन्स्पेक्टर' शब्द का प्रयोग होने लगा और जिला विज़ीटर को डिप्टी इन्स्पेक्टर और परगना विज़ीटर को सब डिप्टी इन्स्पेक्टर कहा जाने लगा। डिप्टी इन्स्पेक्टर प्रत्येक हल्के के केन्द्रीय स्थान में जाकर प्राइमरी की अन्तिम कक्षा की परीक्षा लेता था। इसलिए ये स्कूल हल्काबन्दी स्कूल कहे जाने लगे।

जब पाठशालाओं और स्कूलों की संख्या बढ़ने लगी तब पुस्तकों की समस्या सामने आयी। देश में स्कूलों के लिए रीडर बनाने की प्रथा थी ही नहीं। मिडिल स्कूलों के लिए भाषा, गणित और अन्य विषयों की कुछ उच्च स्तर की पुस्तकों की आवश्यकता थी। किन्तु वे उस समय उपलब्ध नहीं थीं। बाद में जब इन हल्काबन्दी और मिडिल स्कूलों के अध्यापकों के लिए नार्मल स्कूल खुले तब और उच्च स्तर की पुस्तकों की आवश्यकता हुई। सरकार ने अध्यापकों, इन्स्पेक्टरों और अन्य लोगों को पुस्तकें तैयार करने को प्रेरित किया। इसमें सबसे अधिक कार्य, जैसा कि हम बतला चुके हैं, राजा शिव प्रसाद ने किया, जिन्होंने प्राइमरी स्कूल की प्रथम कक्षा से लेकर मिडिल की अन्तिम कक्षा अर्थात् सातवीं तक के लिए हिन्दी की पाठ्य पुस्तकें तैयार कीं। उनके 'गुटका' के तीन भाग थे, जो मिडिल स्कूलों की तीन कक्षाओं के लिए थे। उन्होंने इतिहास तिमिरनाशक नाम से इन स्कूलों के लिए भारत का इतिहास भी लिखा, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। किन्तु लेखकों की कमी के कारण पुस्तकों की कमी थी और उनमें विविधता नहीं थी। इस कमी को दूर करने के लिए १८६८ में तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर श्री टामसन ने (जिनका नाम रुड़की के इंजीनियरिंग कालेज से संबद्ध है) एक विज्ञप्ति निकाल कर लेखकों को पुस्तकें लिखने या अच्छी पुस्तकों का संस्कृत, अंग्रेज़ी या अन्य भाषाओं से अनुवाद करने के लिए पुरस्कार देने की घोषणा की। ये पुरस्कार १०० रु० से ५०० रु० तक के होते थे। १८६८ में १०० रु० का मूल्य आज के १०० रुपयों से कितना अधिक था,

यह आप जानते ही हैं। अतएव हिन्दी में विविध विषयों पर शालोपयोगी पुस्तकें लिखी जाने लगीं। ये प्रायः सभी गद्य में होती थीं। संस्कृत नाटकों के अनुवादों में राजा लक्ष्मणसिंह की शकुन्तला के अनुवाद की तरह श्लोकों का अनुवाद ब्रजभाषा में होता था, किन्तु गद्य खड़ी बोली में होता था। उदाहरणके लिए, १८७१ में पं० गदाधर मालवीय ने 'वेणी संहार' का अनुवाद इसी प्रकार किया था, जिस पर उन्हें १०० रु० पुरस्कार मिला था और उसकी २५० प्रतियाँ भी सरकार ने खरीदी थीं।

सरकार द्वारा स्कूलों के लिए पुस्तकें तैयार करने का काम बड़ी तेजी से हुआ। जैसा कि हम बता चुके हैं, टामसन द्वारा पुरस्कार की घोषणा के कारण अनेक पुस्तकें तैयार की गयीं और शिक्षा विभाग ने अपने विभाग के अधिकारियों और अध्यापकों से भी बहुत सी पुस्तकें तैयार कराईं। ये पुस्तक तैयार करने वाले मंजे हुए लेखक न थे। कर्त्तव्यवश या पुरस्कार से प्रेरित होकर उन्होंने उनकी रचनाएं कीं। इनमें कितने ही तो हिन्दी की अपेक्षा उर्दू या अंग्रेज़ी से प्रभावित थे। उनमें हिन्दी की प्रकृति का ज्ञान कम था। इनमें से कुछ तो अंग्रेज़ी या उर्दू या फ़ारसी से सीधे अनुवाद थे, और कुछ पुस्तकें अंग्रेज़ी की रीडरों को आदर्श के रूप में सामने रखकर तैयार की गयी थीं। अतएव उनकी भाषा सहज और स्वाभाविक हिन्दी न होकर किताबी हिन्दी हो गयी थी। पुस्तकें तो बहुत लिखी गयीं, किन्तु कुछ अधिक चलनेवाली पुस्तकों में थीं: बाल बोध, अक्षरमालिका, वर्णमाला, प्राइमर। इनमें से प्रथम और तृतीय राजा शिवप्रसाद ने तैयार की थीं। पं० श्रीलाल ने प्राइमरी और मिडिल के लिए पत्रमालिका, धर्मसिंह का वृतान्त, सूरजपुर की कहानी, समय प्रबोध, नामक पुस्तकें लिखीं थीं। पं० वंशीधर ने प्रसिद्ध चरितावली, शिक्षा मंजरी, उपदेश पुष्पावली, सुता शिक्षावली नामक पुस्तकें इन्हीं कक्षाओं के लिए लिखीं। पं० तारादत्त सब डिप्टी इन्स्पेक्टर ने लड़कियों के लिए 'हितोपदेश', रामप्रसाद ने 'नीति सुधा तरंगिणी', रामकृष्ण ने 'स्त्री शिक्षा' तथा पं० ताराचंद शास्त्री ने 'स्त्री धर्म संग्रह' तैयार किया था। इसके अतिरिक्त

लड़कियों को पद्य कंठस्थ कराने के लिए 'ज्ञान चालीसा' नामक एक पुस्तक भी चलती थी। यह सूची केवल नमूने की तरह दी गयी है। पुस्तकें तो बहुत लिखी गयीं जिनमें संस्कृत के भोज प्रबन्ध ग्रौर संस्कृत के कई नाटक भी थे जो मिडिल या नार्मल स्कूल में चलते थे। इन पुस्तकों ने, उस युग में जब हिन्दी में पाठ्यपुस्तकें थी ही नहीं, बड़ा काम किया। इनकी भाषा खड़ी बोली गद्य थी। ग्रौर इस प्रकार सारे प्रान्त के गद्य में एकरूपता ग्रा गयी, और खड़ी बोली गद्य का प्रचार हो गया। किन्तु शिक्षा या भाषा की दृष्टि से ये पुस्तकें बहुत संतोषजनक नहीं थीं। 'मथुरा मेमायर्स' Mathura Memoirs के प्रसिद्ध लेखक ग्रौर किसी समय मथुरा के कलक्टर, श्री ग्राउस साहब ने एक बार इनकी बड़ी विवरणात्मक ग्रालोचना की थी। वे हिन्दी के ग्रच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने जो ग्रालोचना की थी, उसका कुछ महत्वपूर्ण ग्रंश यह है:

The real object of village schools is to teach rural population to speak, read and write their own language with propriety. But with the exception of handwriting, to which attention is paid, these are the very matters which are utterly neglected. Grammar is seldom taught, orthography and the meanings of words never, and the very books published under the authority of the Education Department abound in gross errors of spelling.

The faults which strike me in most of the Readers arise from their being translations, or the composition of men who habitually think or write, not in Hindi, but in Urdu or English which makes them stiff and artificial in style.

The close juxtaposition of unusual Sanskrit with equallly unusual Persian phrases, such as समुद्रावधि, ज़रख़ेजी, ग्रद्वितीय all occuring in one sentence, is an unfailing source of bewilderment both to pupil and teacher.

A good illustration of difference between the forced and sponteneous labour is afforded by two sets of Hindi books which have lately come under our notice. The first is the series in use in the Government Schools consisting of grammar, history, manuals of police department, homilies on the sin of infanticide, the advantage of female education and the like. All these have been compiled either by actual or would be employees in the Education Department, either as advertisement of their ability to teach or for securing a definite pecuniary reward. Like the vast majority of prize essays all over the world, they are feeble and inane to the last degree, and from such utterly wearisome and unprofitable reading that their use goes far to explain the unpopularity of our village schools. The second set consists of moral and religious tales, essays and poems issued by the Mission Press in Allahabad. The contrast is very marked. No one book is of great size, but even in the smallest there are abundant evidences of years spent in preliminary study, and an undercurrent of genuine enthusiasm which at least moves, though it may not always succeed in convincing, the reader, and strikes him as a grateful change after the frigid platitudes of the official hirelings.

The only essentials for a successful class book are that it should be interesting in subject, elegant or at least correct in style and of sound but unobstrusive morality. Fulsome panegyrics on the Government and elaborate apoligies for its educational policy are singularly out of place. While of the two other prominent characteristics of the existing series, interminable sermonising is almost as cardinal

a defect as vicious orthography, since it makes a child associate with the idea of a 'book' all which promises him such scanty entertainment.

उन दिनों खड़ी बोली गद्य विकसित हो रहा था, और तब तक सामान्य गद्य लेखन की परम्परा भी दृढ़ नहीं हुई थी। अतएव भाषा, व्याकरण, बर्तनी और मुहावरों के प्रयोग में व्यवस्था नहीं हो पायी थी। किन्तु ग्राउस की वास्तविक शिकायत यह थी कि जहाँ तक भाषा का संबंध है, वह स्वाभाविक हिन्दी नहीं हो पाती थी, उसमें कृत्रिमता थी। तभी से सामान्य बोलचाल की हिन्दी और 'किताबी' हिन्दी में अन्तर होने लगा था और आज शायद वह अन्तर बढ़ा ही है, घटा नहीं। इसी प्रकार आजकल जो लोग अंग्रेज़ी में सोचते और हिन्दी में लिखते हैं, उनकी भाषा और वाक्य-विन्यास बहुधा हिन्दी की प्रकृति से दूर चले जाते हैं। पुरस्कार या पारिश्रमिक देकर किस प्रकार की पुस्तकें लिखायी जाती हैं, यह ग्राउस ने बतलाया है और यह आज भी सत्य है। मैंने कितने ही अनुवाद देखे हैं, जो बिना मूल की सहायता के समझ में नहीं आते।

फिर भी, इतने दोषों के बावजूद, स्कूलों के लिए, विशेषकर टामसन साहब की पुरस्कार योजना के बाद, खड़ी बोली गद्य का जो साहित्य तैयार हुआ, उसने प्रान्त के एक छोर से दूसरे छोर तक पढ़े लिखे लोगों की भाषा में एकरूपता लाने में बड़ी सहायता दी।

खड़ी बोली में होने के कारण कुमाऊं गढ़वाल से लेकर झांसी और बाँदा तक, तथा मेरठ से बलिया तक स्कूलों में जो हिन्दी पढ़ायी जाती थी, उसका गद्य खड़ी बोली का होता था। इस प्रकार सारे प्रदेश में खड़ी बोली गद्य फैल गया। बिहार में पहिले ही से, और मध्यप्रदेश में बाद में, यही खड़ी बोली का गद्य चला। इस प्रकार सारे हिन्दीभाषी क्षेत्र में खड़ी बोली गद्य का प्रचार हो गया।

खड़ी बोली के प्रचार के आरंभ में ईसाई पादरियों ने भी बहुत कार्य किया और कई विद्वानों ने उनकी हिन्दी सेवा की बहुत अधिक सराहना की है। किन्तु क्या उनकी हिन्दी सेवा हिन्दी के प्रेम के कारण

थी ? ईसाई पादरियों का एक मात्र ध्येय ईसाई मत का प्रचार था, जिसके लिए यह आवश्यक था कि वे इंजील का अच्छे से अच्छा अनुवाद उन भाषाओं में करें, जिनके बोलने वालों में वे ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहते थे। ब्रिटिश राज्य के आरंभ काल में जब राज-भाषा विदेशी फ़ारसी थी, और बाद में नयी राजभाषा अंग्रेज़ी हुई तो पादरियों ने देखा कि जनता, जिसे वे ईसाई बनाना चाहते हैं, इन भाषाओं को नहीं जानती। अतएव उन्होंने भारत की प्रत्येक भाषा में ईसाई साहित्य निर्माण करने के लिए कुछ पादरी नियुक्त किये, जिनका उद्देश्य उस निर्धारित भाषा पर अधिकार प्राप्त करके उसमें बाइबिल का अनुवाद करना, ईसाई साहित्य तैयार करना तथा अपने क्षेत्र में विलायत से नय आने वाले मिशनरियों को उस भाषा में शिक्षित करना था। भाषा सीखन के लिए उसके व्याकरण की आवश्यकता होती है, विशेषकर उनके लिए जिनकी वह मातृभाषा नहीं है। देशी भाषाओं का तब तक देश की सामान्य शिक्षा और राजकाज में स्थान ही नहीं था। अतएव यहाँके विद्यार्थियों या लोगों के लिए उनके व्याकरण बनाने की आवश्यकता ही न थी। फ़ारसी और संस्कृत के तो अनेक व्याकरण थे क्योंकि उनका अध्ययन होता था, किन्तु देशी भाषाओं के व्याकरण बनाने की देशवासियों को आवश्यकता ही नहीं अनुभव हुई थी। वे बने ही न थे। ईसाई पादरियों ने देशी भाषाओं (हिन्दी, उर्दू, तामिल, मराठी, गुजराती ही नहीं, आदिवासियों में भी ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उनकी बोलियों, जैसे संताली आदि तक का पूर्ण अध्ययन करके उनके) व्याकरण बनाये। भारत ही में नहीं, ईसाई पादरियों ने अफ्रीका की अनेक बोलियों और भाषाओं के व्याकरण बनाये, उनका अध्ययन किया और उनमें अपना साहित्य निर्माण किया। किन्तु उनका प्रेम इन भाषाओं से नहीं था। यह अध्ययन ईसाई धर्म के प्रचार का आवश्यक और अनिवार्य माध्यम था। वह हिन्दी की सेवा की भावना से नहीं किया गया था। उससे आरंभ में हिन्दी की कुछ सेवा भी हुई। यह परोक्ष और अप्रत्याशित परिणाम था। यदि ये ईसाई पादरी हिन्दी का व्याकरण न भी बनाते तो जब हिन्दी

स्कूलों की भाषा हो गयी तब वे कुछ समय बाद बनते, और बने भी। मेरे पास उस समय के छोटे-मोटे कई व्याकरण हैं, जो स्कूलों में हिन्दी चलने के बाद अध्यापकों और हिन्दी के विद्वानों ने बनाये। ईसाई पादरियों ने आरंभ में हिन्दी के व्याकरण बना कर कुछ उपकार अवश्य किया, जिनमें पादरी ऐथरिंगटन का 'भाषा भास्कर' नामक हिन्दी व्याकरण उल्लेखनीय है। किन्तु पादरियों के हिन्दी के काम को मैं उतना महत्वपूर्ण नहीं समझता जितना हिन्दी के कुछ विद्वान समझते हैं। इनकी अपेक्षा मैं उन अंग्रेज़ों का अधिक प्रशंसक और कृतज्ञ हूँ, जो सिविल सर्विस में रहकर हिन्दी की ओर आकृष्ट हुए और जिन्होंने विशुद्ध हिन्दी प्रेम के कारण हिन्दी की सेवा की, जिनमें ग्रियर्सन, ग्राउस, ग्रिफ़िथ, पिनकाट, रुडाल्फ हार्नली, ओल्डहम आदि का नाम बड़े आदर से लिया जा सकता है।

अब मैं सन् १८५६ से १९०० तक की पुस्तकों और पत्रिकाओं में प्रयुक्त खड़ी बोली भाषा के कुछ नमूने आपके सामने दे रहा हूँ। मैंने इस निबन्ध को १८५७ से १९०८ तक सीमित रखा है। इससे एक वर्ष पूर्व अर्थात् १८५६ में छपी एक पुस्तक की भाषा से आपको मालूम होगा कि जब यह युग आरंभ हुआ, तब खड़ी बोली प्राय: अपने वर्तमान रूप में आ चुकी थी। लेखकों और स्थान भेद के कारण उनकी भाषाओं में अल्प भेद थे, किन्तु वे भाषा की प्रकृति और गठन को प्रभावित नहीं करते थे। हाँ, उन दिनों विराम आदि चिन्हों का उपयोग प्राय: नहीं के बराबर होता था, जो इस आलोच्य काल में धीरे-धीरे होने लगा। पहिले पूर्ण विराम के लिए एक या दो खड़ी पाइयों का उपयोग होता था और बहुत बाद में अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं के प्रभाव से कामा, सेमिकोलन, कोष्टक (ब्रैकेट), हाईफ़न, आदि के प्रयोग होने लगे और १९वीं शती के अन्त तक उनका प्रयोग पूर्ण रूप से प्रचलित हो गया।

१८५६ की एक पुस्तक की भाषा का नमूना देकर मैं १८५७ से १९०८ तक के प्रत्येक दशक की कुछ चुनी हुई पुस्तकों और पत्रि-काओं की भाषा के थोड़े से नमूने आपके सामने प्रस्तुत करूँगा। सबसे

पहिले १८५६ की छपी 'सत्य निरूपण' नामक पुस्तक के कुछ अंश आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह शिक्षा विभाग के पं० कृष्ण-दत्त ने मराठी से अनूदित की थी। उसका एक अंश सुनिए :

"फ्रांस देश में एक जागीरदार की स्त्री बहुत प्रामाणिक और सत्यवादी थी एक दिन ऐसा भया कि उसने राजा को अपने एक आश्रित के लिए सिफारिश की चिट्ठी दी थी उसको राजा ने जब नहीं माना तब उसे बहुत बुरा लगा और राजा को कुछ खोटा कहने लगी उस समय राजा के एक सेवक ने सुन कर राजा से जा कहा राजा ने यह बात उसके बड़े भाई से कही उसने सुनते ही राजा से कहा कि यह झूठ है मुझे यह बात सच नहीं जान पड़ती क्या मेरी बहन मूर्ख है आपको खोटा कैसे कहेगी राजा ने फिर कहा कि जो वह इस बात को नामुकर जावेगी तो भी हम उसे अच्छा जानेंगे क्योंकि उसकी सचावट पर हमको पूरा विश्वास है यह सुनते ही उसका भाई अपनी बहन के पास गया और उससे पूछा तब उसने जो सच्चा हाल था वह कहा यह सुनते उसका मन बहुत उदास हो गया और बहन से कहने लगा कि राजा के सामने इस बात से नामुकर हो जाइयो क्योंकि हमने राजा का मन भर दिया है कि हमें यह बात झूठ जान पड़ती है और ऐसी बात हमारी बहन कभी न कहेगी इसलिये इस प्रसंग में झूठ बोलने से तुम्हारी और हमारी दोनों की बात राजा के सामने बनी रहेगी और राजा के मन में हमारी तुम्हारी ओर से कुछ धोखा न रहेगा इस तरह से उसने बहुत समझाया परन्तु उसने एक न माना और कहने लगी कि भाई तू हमसे क्यों झूठ बुलवाता है छिः छिः यह बात तू हमसे मत कह और जो बात हमारे मुँह से निकल गयी उसे हम क्यों कर पलटें और तू ही कहता है कि हमारी सचावट पर राजा को भरोसा है फिर हम कैसे झूठ बोलें क्या हमें अपना अपराध ईश्वर के और राजा के यहाँ अधिक बढ़ाना है कभी ऐसी बात हम नहीं कहेंगे ।।"

यह १८५६ की खड़ी बोली है। इसी खड़ी बोली के आधार

पर आगे के दशकों में खड़ी बोली गद्य का विकास हुआ। अतएव जब सन् १८५७ के बाद खड़ी बोली में साहित्य लिखा जाने लगा तब उसे एक बने बनाये गद्य की भाषा और शैली सुलभ थी। अवश्य ही इसमें कुछ ऐसे शब्द आये हैं जैसे 'सचावट', 'नामुकर' आदि जो अब प्रचलित नहीं हैं, किन्तु इसमें प्रवाह है और स्वाभाविक रूप से मुहावरों का प्रयोग है। एक बात अवश्य है कि इसमें कहीं किसी प्रकार के विराम चिन्हों का प्रयोग नहीं है। केवल कहानी के अन्त में दो पाइयाँ दी हुई हैं। दूसरा भेद यह है कि 'व' और 'य' पर नुक्ते लगे हैं तथा 'भ' अक्षर का रूप आज के 'भ' अक्षर से भिन्न है।

१८५६ में इतनी प्रांजल खड़ी बोली कैसे विकसित हो गयी थी, दखिनी हिन्दी, ब्रजभाषा गद्य का कैसे परिष्कार हुआ, यह इस निबन्ध के क्षेत्र के बाहर है, किन्तु प्राचीन हिन्दी गद्य के दो नमूने हम यहाँ देते हैं, जिनसे तुलना करने पर इस विकास का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। पहिला नमूना 'हितोपदेश' नामक एक पुस्तक से है जो श्री अगरचन्द नाहटा के मतानुसार १७वीं या १८वीं शती का है, किन्तु श्री हरिहरनिवास द्विवेदी इसे १५वीं शती का ग्वालियरी या ब्रजभाषा का नमूना मानते हैं, उसका एक अंश यह है:

"श्री महादेव जी के प्रसाद ते साधू पुरुष हैं, तिनकी सकल कामना की सिद्धि होहु। कैसे हैं श्री महादेव जू। जिनके माथे चन्द्रमा की कला है सो गंगा जी के फेन की सी लगै है रेखा। और यह हितोपदेश सुन के पुरुष सत्य बचन में प्रवीन होय, नीति विद्या कूं जानै ते पंडित होय सो आपकूं अजर अमर जानै। अरु विद्या धर्म अर्थ का संचार करै। सर्व द्रव्य में विद्या उत्तम धन है जाको कोऊ लै न सकै। जाको मोल नाहीं कबहूं जाको खक्ष नाहीं जाते विद्या नीच मनुष्य को भी बड़े, राजा ताईं पाचुंवै। अरु सास्त्र विद्या सीखै ताकी मनुष्य में प्रतिष्ठा जस होय। तासूं विद्या कूं बिरध अवस्था ताईं सीखबो करै।"

दूसरा गद्य का उदाहरण अपने पिताजी के संग्रह की 'दिल्ली की पातसाही' नामक छोटी सी पुस्तिका से दे रहा हूँ। यह औरंगजेब की मृत्यु के कुछ दिनों बाद की लिखी मालूम होती है, क्योंकि इसमें आदि से लेकर औरंगजेब की मृत्यु तक के दिल्ली के शासकों की सूची और संक्षिप्त वर्णन है। यह अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध की लिखी मालूम होती है। लेखक का नाम नहीं, शायद लेखक का सम्बन्ध राजस्थान से भी था। उसका एक अंश देखिए:

> "पीढ़ी ७ चौहान की बरस २९ महीना ७ दिन ४ घड़ी ३ में चौहानों का राज पूरा हुआ। राजा प्रिथीराज संयोगता ताके बस होय घर में ते निकस्यो नहीं सावंत १६ सूरमा १०० सो तिनके भरोसे लड़ाई सर सावंतों ने जीती महीना १५ ताई महलों ते निकस्यो नहीं। सो ताके साह संकर सेठ छो। ताते अपना हुकुम चलायो सावंत सूर दिचिन्ता हुआ तिनौने संकर सेठ मारा तब संकर सेठ को बेटा भाज के गजनी पातसाह गंजन गौरी चढ़ि आयो।"

यह तत्कालीन किंवदंतियों पर आधारित वर्णन है। औरंगज़ेब के शासन तक 'हुकुम', 'हकीकत' ऐसे विदेशी शब्द प्रचलित हो गये थे। भाषा में खड़ी बोली का कहीं-कहीं पुट है, कहीं राजस्थानी की झलक है किन्तु भाषा मूलतः आगरे के आस-पास की है। मैं जान-बूझकर चौरासी वैष्णवों की वार्ता आदि सुपरिचित गद्य कृतियों के उद्धरण नहीं दे रहा हूँ।

इन दो उद्धरणों से, जो अधिक से अधिक सत्रहवीं और अठारहवीं शती के हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि तबसे १८५६ तक खड़ी बोली गद्य कितना विकसित हो गया था, और उसका रूप सामान्यतः स्थिर हो गया था।

राजा लक्ष्मण सिंह ने १८६३ में शंकुतला का अनुवाद किया। रघुवंश का गद्यानुवाद १८७८ में मेघदूत का १८८२ में और उत्तर मेघ का १८८४ में किया। रघुवंश के आरंभ में उन्होंने रघुवंश का सारांश दिया है। उसकी भाषा का नमूना देखिए:

"पहला सर्ग।। इस सर्ग में कवि ने शिव पार्वती की वंदना करके रघुवंशियों के गुण वर्णन किये हैं कैसे हैं वे रघुवंशी कि जन्म से शुद्ध हैं, जब तक फल न प्राप्त हो तब तक किसी काम में उद्योग को नहीं छोड़ते, समुद्र परयन्त पृथ्वी के स्वामी हैं, विधिपूर्वक यज्ञ करते हैं, याचकों का यथोचित सम्मान करते हैं, अपराधियों को जैसा चाहिए दे देते हैं, उचित समय पर जगते हैं, दान के निमित्त धन जोड़ते हैं, सत्य के कारण थोड़ा बोलते हैं, केवल यश के लिए जीत चाहते हैं, और सन्तान के निमित्त ही गृहस्थी बनते हैं..." इत्यादि।

इसकी शैली कुछ पंडिताऊ है, 'पर्यन्त' को 'परयन्त' और 'गृहस्थ' को 'गृहस्थी' लिखा है। किन्तु भाषा सरल, मुहावरेदार और शुद्ध खड़ी बोली है। यह प्रकाशित तो हुआ १८७२ में किन्तु १८६० के पहिले लिखा गया था, अतएव यह १८५०-६० दशक की भाषा का नमूना है।

इस दशक की एक और पुस्तक की भाषा का नमूना देखिए। यह पुस्तक 'नीति सुधा तरंगिणी' इलाहाबाद जिले के सोरांव परगने के निवासी किसी पंडित रामप्रसाद ने लिखी थी :

"जिन विद्वानों के बताये हुए ग्रन्थ इस समय विद्यमान हैं यद्यपि उनको मरे हुए सहस्त्रों वर्ष हो गये हैं परन्तु जब उनकी रचना पढ़ी लिखी जाती है तब नित्य नवीन रहती है। केवल उन्हीं के लिए यह लाभ नहीं होता वरन जिसकी चर्चा मात्र ग्रन्थ में लिख देते हैं उसकी कीर्ति और नाम को अचल कर देते हैं।

विद्वानों और कवियों के ऐसे अपूर्व गुण और महिमा का सोच विचार कर जिन प्राचीन राजाओं ने विशेषकर भारतखंड में अपने शुभाचरित और विनय आदर से विद्वानों को संतुष्ट किया है, उनकी सत्कीर्ति को विद्वानों ने ग्रन्थ रचना के द्वारा अजर अमर कर दिया है और जिन नरेशों को विद्यानुराग नहीं हुआ उनका नाम मरने के बाद डूब गया पीछे कोई नाम भी नहीं जानता देखिये सूर्यवंशी है विद्वानों में ऐसी गुणवत्ता होती है कि पुराने कवियों की रचना

नवीन कवि नये सिरे से आभूषित करते हैं, जैसे वचन को रघुवंश आदि काव्य में विलक्षणता के साथ प्रशंसित किया है। यह बात भली-भांति निश्चित है कि जिस वंश व देश को राजा अपने अधीन करता है जब तक उस देश के विद्वानों और कवियों की वाणी में प्रशंसित स्थान नहीं पा पाता और कवियों के लेखनी उसकी कीर्ति और सुयश को नहीं घेरती तब तक उस राजा की सत्कीर्ति शोभित और स्थिर नहीं रहती।"

दूसरी पुस्तक 'भोजप्रबन्ध सार' वंशीधर ने १८७०, ७१ के लगभग बनायी। उसकी भाषा का नमूना यह है :

"मनुष्य लालच से अपने माँ बाप लड़के गुरु मालिक और परम-मित्र को भी मार डालता है। ऐसी बातें विचार कर राजा सिंधल ने अपनी भाई मुंज को राजगद्दी दी और भोज को उसे सौंप कर शरीर छोड़ा। मुंज ने गद्दी पर बैठते ही पुराने मंत्री बुद्धिसागर को दूसरा काम सौंप दिया और दूसरे को मंत्री का अधिकार दिया और भोज को पढ़ाने के लिए एक पाठशाला नियत की भोज व्याकरण न्याय इतिहास आदि चौदह विद्या और चौंसठ कलाओं को अच्छी तरह पढ़ विद्या में वृहस्पति के तुल्य और विशेषकर कविता की रचना में बहुत निपुण हुआ....एक दिन भोज का चचा मुंज पाठशाला में आया और भोज की चतुराई और पंडिताई देख अपने मन में सोचा कि यह तो अपने पिता से भी अधिक बलवान और प्रतापी होता देख पड़ता है। सावधान होते ही अवश्य मुझसे राज्य छीन लेगा। इसलिये अभी इसे मार डालना अच्छा है और राजनीति में कहा भी है कि मान अपमान को न देखें जिस तरह बजे अपना काम निभाले। यथा ॥

अपमानम् सुस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठत:
स्वार्थं समुद्धरेत् प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशोहि मूर्खता ॥"

इसमें भी नीति तरंगिणी की तरह विराम चिन्हों का प्रयोग नहीं है।

अब १८७१ के वेणी संहार के नाटक के अनुवाद का नमूना देखिए।

यह अनुवाद पं० गदाधर मालवीय इलाहाबाद निवासी ने किया था :

"(भानुमती सुवदना और चेटी आई)

सु० स्वामी जी ! महाराज दुर्योधन की पटरानी होकर केवल सपना ही क देखने से क्यों धीरज छोड़ बहुत संताप करती हो ?

चे० महारानी : सुवदना अच्छा कहती है क्योंकि सोया हुआ मनुष्य क्या क्या नहीं देखता।

भानु० सखी। ऐसा ही है परन्तु यह सपना मुझे अशुभ जान पड़ता है।

सु० हे प्यारी सखी। जो ऐसा है तो आप कहिये मैं देवताओं का नाम लेकर और ब्राह्मणों को दान देकर दोष को दूर कर दूँगी।

० ० ०

भानु : सखी। मैं डर से भूल गयी कुछ ठहरो स्मरण करके सब कहूँगी। (शोचनें लगी)

(दुर्योधन और कंचुकी आये)।।

दु० किसी ने यह अच्छा कहा है।।

छिपक अथवा प्रगट रिपु हानि अधिक का स्वल्प
अपने से या और से सुख का मूल अनल्प
उससे आज द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि वीरों को अभिमन्यु का मरना सुनकर मेरा हृदय आनन्द से पूर्ण हो गया।।"

इस नाटक में श्लोकों का अनुवाद कहीं खड़ी बोली और कहीं ब्रजभाषा में किया गया है :

इस दशक की एक तीसरी पुस्तक 'अहिल्या कामधेनु' है जो महारानी अहिल्याबाई के बनवाये धर्मग्रन्थ का सारांश अनुवाद है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह काशी के एक महाराष्ट्र विद्वान ने

लिखी थी। लेखक का नाम था धर्माधिकारी ढुंढिराज शास्त्री। यह माला के रूप में निकली थी, इसका पहला अंक मार्ग शीर्ष सं० १९३४ अर्थात् सन् १८७७ में निकला था। एक अहिन्दीभाषी की उस युग की खड़ी बोली का नमूना देखिए:

"विदित हो कि कुछ काल से इस आर्यावर्त देश के धर्मशास्त्र के हेमाद्रि अपराध मदन पारिजात इत्यादि वृहद् ग्रन्थ जिनसे सब कार्य आर्य धर्म वालों (हिन्दुओं) के चल सकते हैं प्रायः अलभ्य हो गये हैं। इस कारण धर्म की हानि उठाते हैं बहुधा मनुष्य ऐसे हैं जो धर्मशास्त्र के नाम से यही समझते हैं कि इस्में केवल ईश्वर की उपासना के पूजापाठ लिखा है इस्से उनकी रुचि नहीं होती यह नहीं जानते कि धर्म शास्त्र हमारा इस लोक परलोक का अर्थ साधक है जन्म से मरण तक मनुष्य को किस तरह रहना चाहिए पढ़ना लिखना कमाना रुपयों का जमा खर्च करना व्याह करना पुत्र पैदा करना उसको किस तरह रखना यह सब बातें और सब संसार...हमारा हिन्दू धर्म शास्त्र बहुत उत्तम है सरकार ने व्यवहार विषय में अदालत की कार्यवाही में इसे ग्रहण किया है और अत्यन्त विचार करके उसी धर्मशास्त्र के अनुसार हमारा न्याय होता है॥"

इस लम्बे उद्धरण में कोई विराम चिन्ह नहीं है। अन्त में दो पाइयाँ हैं। 'इससे' 'इसको' आदि मिलाकर लिखे गये हैं। किन्तु है खड़ी बोली।

इसी दशक में स्वामी दयानन्द ने अपना सत्यार्थ प्रकाश लिखा था। वे भी अहिन्दी भाषी थे। उसका प्रथम संस्करण १८७५ में निकला। सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम संस्करण की भाषा का नमूना मैं आपको आरंभ ही में सुना चुका हूँ।

खड़ी बोली उस समय तक इतनी प्रचलित हो गयी थी कि अहिन्दी भाषी भी उसमें सरलता से कुशलता प्राप्त कर लेते थे।

सन् १८७० के बाद के दशक में धार्मिक, सामाजिक आन्दोलनों

के कारण खड़ी बोली गद्य में पुस्तकों, पुस्तिकाओं, पैम्फलेटों, पत्रिकाओं की भरमार हो गयी। 'हिन्दी प्रदीप' १८७६ ही में प्रकाशित होने लगा था। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' १८७३ से निकली। 'पीयूष प्रवाह' १८८४ से निकला, 'धर्म दिवाकर' १८९५ में निकला, 'आर्यमित्र' सन् १८९८ में निकला, 'ब्राह्मण' भी उसी दशक में निकला। इन पत्रिकाओं और पत्रों ने खड़ी बोली का व्यापक प्रचार किया। अखरौटी, विराम चिन्हों और शब्दों में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा। भारतेन्दु ने हिन्दी में नये प्राण फूँक दिये और बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, किशोरीलाल गोस्वामी, चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन', श्री निवासदास आदि लेखकों ने खड़ी बोली गद्य को मांजा और परिमार्जित किया। इतना ही नहीं, पाठकों में राजनीतिक चेतना भी उत्पन्न हो गयी थी और ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना भी आरंभ हो गयी थी अब साहित्यिक, आर्थिक, कलाकौशल, विज्ञान और राजनीति आदि विषयों पर भी लेख और पुस्तकें निकलने लगीं। वास्तव में यह युग ही 'भारतेन्दु युग' कहलाता है क्योंकि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व ने हिन्दी को एक क्रान्तिकारी मोड़ दिया था। इसलिए उनके संबंध में कुछ अधिक विवरण में कहना चाहूँगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

उस समय कुछ हिन्दी प्रेमियों की लिखी हुई विविध विषयों की पुस्तकों और खंडन-मंडन की धार्मिक पुस्तकों को छोड़कर मुख्य रूप से हिन्दी में केवल वे ही पुस्तकें लिखी जाती थीं जो प्राइमरी, मिडिल या नार्मल स्कूलों में काम आ सकें। राजा लक्ष्मणसिंह ने गदर के आस-पास ही शकुंतला का अनुवाद किया था। गदाधर सिंह तथा कुछ अन्य लेखक भी कुछ काम कर रहे थे। जो स्कूलेत्तर साहित्य निकलता भी था, वह या तो पुराने साहित्य-ग्रन्थों का मुद्रित संस्करण अथवा कवियों के छंदों के संकलन के रूप में होता था। संस्कृत के अनुवाद का भी कुछ काम हुआ। कितनी ही पत्र पत्रिकाएँ भी निकलीं, जो बाल प्रयास की तरह प्रोत्साहन पाने के योग्य तो थीं, किन्तु जिनका भाषा या साहित्य की दृष्टि से बहुत महत्व न था। भारतेन्दु ने आकर यह सब बदल दिया और जनता तथा लेखकों को आधुनिक साहित्य में दीक्षित करके हिन्दी साहित्य की गाड़ी आधुनिकता की पटरी पर चढ़ा दी। इसीलिए वे 'आधुनिक हिन्दी के पिता' कहलाते हैं। उनके पूर्व हिन्दी के साहित्य की समृद्धि और हिन्दी चेतना उत्पन्न करने के जो प्रयास हुए थे, वे छुटपुट थे। उन्होंने अपने प्रभाव से यह सब बदल दिया। अपने बहुमुखी साहित्य सर्जन और सम्पादन से उन्होंने हिन्दी प्रचार के आन्दोलन को गति दी। इस प्रकार वे एक साथ साहित्यकार और हिन्दी प्रचारक अर्थात् साहित्य-सेवी और हिन्दी-सेवी दोनों ही थे। उनके बाद हिन्दी कार्यकर्त्ताओं की दो शाखाएँ हो गयीं। एक शाखा के लोग केवल साहित्य सेवा में लगकर मात्र साहित्यकार बन गये, और दूसरी शाखावाले हिन्दी प्रचार करने लगे। बाद के साहित्यकार सामान्यतः हिन्दी प्रचार के

आन्दोलन से उदासीन हो गये। हिन्दी के अधिकांश बड़े-बड़े कवि, उपन्यासकार आदि ने हिन्दी प्रचार में या तो एक दम भाग नहीं लिया, या बहुत कम, नाम मात्र को लिया। इसके विपरीत महामना मालवीयजी, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन आदि ने साहित्य निर्माण प्रायः बिल्कुल नहीं किया, किन्तु सारा जीवन हिन्दी के प्रचार और प्रसार में लगा दिया। मैं अपने को इसी शाखा की अन्तिम कड़ियों में से एक समझता हूँ। इसलिए मैं हिन्दी साहित्यिक होने का दावा नहीं करता। यदि आप मुझे एक तुच्छ हिन्दी प्रचारक मात्र मान लें तो मुझे पूर्ण संतोष होगा। यह शाखा अब उत्तर भारत में समाप्तप्राय है। किन्तु अब एक तीसरा वर्ग उत्पन्न हो गया है जो अत्यन्त प्रभावशाली है। वह है हिन्दी का प्रोफेसर वर्ग। किन्तु यह तो हालकी उपज है। भारतेन्दु क्या, आज से प्रायः ४० वर्ष पूर्व तक इसका नाम भी न था। जो भी हो, भारतेन्दु की चलायी साहित्य सर्जना की शाखा आज खूब फल-फूल रही है और आज इतने सफल और उच्च कोटि के साहित्यकार, कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, नाटककार, समीक्षक देखकर किसे प्रसन्नता न होगी? किन्तु उनकी दूसरी शाखा, हिन्दी प्रचारकों की शाखा, अब प्रायः सूख गयी है। उस सूखे ठूंठ की किसी-किसी डाली में दो चार पल्लव दिखायी पड़ते हैं, किन्तु वे इतने नहीं हैं कि हिन्दी के बहुमुखी प्रचार को प्राणवायु दे सकें। इन दो शाखाओं के आदि नेता भारतेन्दु के संबंध में कुछ कहे बिना यह भाषण अधूरा रह जायगा।

भारतेन्दु ने अपने छोटे से जीवन में जो काम किए, उनका वर्णन और मूल्यांकन कोई रामचन्द्र शुक्ल ही कर सकता है। अतएव मैं उनके विविध कार्यों के मूल्यांकन का प्रयास न करूँगा। किन्तु उनके कार्य में मुझे जिस बात ने सबसे अधिक प्रभावित किया, वह उनकी आधुनिकता है। साथ ही उनकी सार्वभौमिकता और जीवन के विविध पहलुओं में रुचि देखकर आश्चर्य हुआ। आप जानत हैं कि उन दिनों पत्रकार भी थे। उनके पूर्व जो पत्रिकाएँ निकलती थीं, वे या तो शृंखलाहीन समाचारों से, या किसी विशेष विषय जैसे धर्म संबंधी

लेखों से भरी रहती थीं। भारतेन्दु ने कई पत्र पत्रिकाएँ निकालीं। उनमें उनकी 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' प्रमुख है। उसे देखने से और पूर्ववर्ती हिन्दी पत्रिकाओं से उसकी तुलना करने से मालूम होता है कि उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता में कितना क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया था। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका की सम्पूर्ण जिल्दें मुझे देखने को नहीं मिलीं। मेरे संग्रहमें १८७४ से लेकर १८७९ के २२ अंक हैं, जिनमें एक अंक तीन मास का संयुक्त अंक है। सबसे पुराना अंक जून, १८७४ का और अन्तिम अंक सितम्बर १८७९ का है। अतएव हरिश्चन्द्र चन्द्रिका का पूरा परिचय मुझे प्राप्त नहीं हो सका, फिर भी उसकी अधूरी फाइल से ही उनकी दृष्टि की व्यापकता और रुचि की व्यापकता स्पष्ट हो जाती है। उन्होंने "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" में सभी विषयों पर लेख प्रकाशित कर पाठकों की रुचि और ज्ञान को विस्तृत किया। उसमें कविता, नाटक, कहानी, आदि के अतिरिक्त विज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, जीवनी, यात्रा आदि विषयों पर अनेक लेख निकले। विज्ञान पर सुलभ रसायन, बिजली और परमाणु, ज्योतिर्विद्या (खगोल) और बच्चों के आहार एसे विषयों पर भी लेख निकाले। इतिहास पर केवल भारत ही नहीं, विदेशों के इतिहास पर भी लेख दिये गये। इनमें ग्रीस और महाराष्ट्र के इतिहासों पर प्रकाशित लेख उल्लेखनीय हैं। पुरातत्व पर 'पंपासर का दानपत्र' नामक लेख एक महत्वपूर्ण लेख है। जीवनियों में सूरदास, जयदेव, और रामानुज स्वामी के जीवन वृतान्त छापे गये। बदरिकाश्रम की यात्रा, सरयूपार की यात्रा, जनकपुर की यात्रा, यात्रा सम्बन्धी लेखों के नमूने हैं। समकालीन कवियों की कविताओं के अतरिक्त वे पुराने कवियों को भी प्रकाश में लाते थे, जिनके उदाहरण गदाधर भट्ट, काष्ठजिह्व स्वामी और नन्ददास के काव्य हैं। वे अनुवादों की आवश्यकता और उपयोगिता समझते थे। 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' में ठाकुर गदाधर सिंह का कादम्बरी का प्रसिद्ध अनुवाद छपा था। सामवेद के कुछ अंशों का अनुवाद प्रकाशित हुआ था। अंग्रेज़ी के शिशुपालन संबंधी एक निबन्ध के अनुवाद ने भी स्थान पाया था। सब से आश्चर्य

की बात यह है कि उसमें कुरान शरीफ़ का अनुवाद धारावाहिक रूप से बहुत दिनों तक निकाला गया। यही नहीं, वे पुस्तकों की आलोचनाएँ भी प्रकाशित करते थे। ये आलोचनाएँ आवश्यकतानुसार सहानुभूतिपूर्ण या आक्रामक होती थीं, जिनसे भारतेन्दु की निर्भीकता टपकती थी। कभी-कभी राजनीतिक विषयों पर भी लेख होते थे। उनका ऐसे एक लेख का शीर्षक था, 'अंग्रेज़ों से हिन्दुस्तानियों का मन क्यों नहीं मिलता।' साहित्य में एक और विधा का प्रयोग वे बड़ी सफलता से करते थे। वह था व्यंग्य। ये व्यंग्य साहित्यिक भी होते थे और राजनीतिक भी। उस समय 'इन्दर सभा' नामक एक विशिष्ट शैली के नाटक का बड़ा प्रचलन था, जो लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के पतनोन्मुखी शासन में विकसित हुई थी। उसकी निःसारता और हास्यास्पदता स्पष्ट करने के लिए उन्होंने 'बन्दर सभा' नाम का छोटा सा नाटक प्रकाशित किया था। 'ग्राम पाठशाला नाटक' में तत्कालीन प्राइमरी स्कूलों की दुर्दशा का चित्रण किया गया था।

उनकी कल्पना कितनी प्रखर थी, उनके विचार समय से कितने आगे थे तथा वे उस समय भी हिन्दी में उन सब कामों को करने के लिए जिन्हें हम आज कर रहे हैं, कितने प्रयत्नशील थे, यह देखकर आश्चर्य होता है। उसके लिये दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। जून १८७४ के अंक में उन्होंने बनारस कालिज के गणिताध्यापक पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र की 'सरल त्रिकोणमितिकी उपक्रमणिका' की विस्तृत समालोचना की थी। उसमें उन्होंने इस समय मानक पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता पर जोर देते हुए लिखा था:

"हिन्दी भाषा में विज्ञान, दर्शन, अंकादि के ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं और जो दस पांच छोटे मोटे हैं भी वे पुरानी चाल के हैं और उनके पारिभाषिक शब्द ठीक नहीं हैं। इस ग्रन्थ के अंत में एक निघंटु भी है जिसमें पारिभाषिक शब्दों के पर्यायवाचक अंग्रेज़ी शब्द भी दिये हैं। यह इस विद्या के और नये-नये ग्रन्थ बनानेवालों को बहुत उपयोगी होंगे, पर हम यह कहना चाहते हैं कि जो लोग त्रिकोण-

मिति के नये ग्रन्थ रचें वे इन्हीं शब्दों का प्रयोग करें क्योंकि बहुत से पारिभाषिक शब्द होने से भ्रम होता है। इसके सिवाय जब सब लोग यही शब्द लिखने लगेंगे तो हिन्दी में इनका प्रचार भी हो सकता है।"

इस टिप्पणी से स्पष्ट है कि वे ज्ञान विज्ञान के पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता और उनका मानकीकरण चाहते थे। नागरी प्रचारिणी सभा ने इस शती के प्रथम दशक में और डा० रघुवीर आदि ने स्वतंत्रता के बाद यह कार्य आरंभ किया। अब प्राय: सौ वर्ष बाद भारत सरकार यही काम कर रही है।

दूसरा उदाहरण एक ऐसी योजना का है, जो कार्यान्वित न हो सकी, किन्तु वह उनकी दूरदर्शिता की परिचायिका है। हिन्दी संसार ने इधर फिर 'ला जर्नल' के ढंग की पत्रिका की आवश्यकता का अनुभव किया। कुछ दिनों पूर्व काशी नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन न ऐसी पत्रिकाएँ निकाली थीं, किन्तु एक दो अंक से अधिक वे न निकाल सके। अब भारत सरकार के विधि विभाग ने ऐसी पत्रिका का आरम्भ किया है जिसके कुछ अंक प्रकाशित भी हो चुके हैं और आशा है कि भारत सरकार का प्रकाशन होने के कारण वह स्थायी रूप स प्रकाशित होती रहेगी। किन्तु सकी कल्पना भारतेन्दु की अलौकिक प्रतिभा ने बहुत पहले ही कर ली थी। सन् १८७५ क अप्रैल की चन्द्रिका के अंक में उन्होंने एक विज्ञापन प्रकाशित किया था। वह विज्ञापन यह था:

"हिन्दी में बहुत से अखबार हैं, पर हमारे हिन्दुस्तानी लोगों को उनसे कानूनी खबर कुछ भी नहीं मिलती और न हिन्दी में कानूनों का तर्जुमा है, जिसे देखकर और पढ़कर वे अदालत की बातें समझ सकें। अदालत वह चीज है, जिससे छोटे बड़े किसीको छुट्टी नहीं। इससे सब गृहस्थों को इसका जानना बहुत जरूरी है। बहुत से बेचारे कानून जाने बिना लोगों के जाल में पड़कर खराब हो जाते हैं। तो इस आपत्ति से लोगों को बचाने को एक माहवारी पत्र 'नीति

प्रकाश' नाम का बनारस में जारी होगा। इसमें अंग्रेज़ी और उर्दू कानूनों का तर्जुमा छपा करेगा और इसके सिवाय विलायत और हाईकोर्ट के फैसले छपेंगे। मुन्शी ज्वालाप्रसाद, गवर्नमेंट प्लीडर हाईकोर्ट, बाबू तोताराम हाईकोर्ट प्लीडर इत्यादि लायक दोस्त इसके मददगार होंगे। इसमें इतनी बातें छपेंगीं:

१. दीवानी, फौजदारी, कलक्टरी वगैरह के कानून।

२. रियासतों के कानून।

३. इंडिया गज़ट और गवर्नमेंट गजट का खुलासा।

४. हाईकोर्ट और विलायत की नज़ीर और दूसरी अदालतों की नज़ीर।

५. हिन्दू और मुसलमानों के धर्मशास्त्र।

६. नई और पुरानी नीतियों का संग्रह।

७. सरकार से और राजाओं से जो अहदनामे हुए हैं उनका खुलासा।

८. और कानूनों का खुलासा।

९. कानूनों और फैसलों पर राय।

१०. फुटकर।"

इस विज्ञापन से मालूम होता है कि उनकी विधि पत्रिका की कल्पना कितनी व्यापक और उपयोगी थी। उन्हें हिन्दी के उस आरम्भिक काल में (१८७५, में) ऐसी पत्रिका की आवश्यकता अनुभव करने और उसे निकालने का प्रयत्न करने का श्रेय है। हम अर्थात् हिन्दी के कार्यकर्त्ता, हिन्दी की संस्थाएं और हिन्दी के प्रकाशक उसे आज तक नहीं निकाल सके और जिसे अब जाकर भारत सरकार ने निकालना आरम्भ किया है। हम नहीं कह सकते कि भारत सरकार की विधि पत्रिका कितनी उपयोगी है और उसका कार्य क्षेत्र क्या है तथा भारतेन्दु की इस प्रकार की पत्रिका की कल्पना से वह कितनी भिन्न है क्योंकि कानून मेरा विषय नहीं है और न मैंने अब तक वह पत्रिका देखी ही है।

वे केवल कविता, कहानी, नाटक आदि को हिन्दी की उन्नति के

लिए पर्याप्त नहीं समझते थे। समग्र जीवन से संबंधित वाङमय को हिन्दी में लाने का, तथा उसके लिए मानक और शुद्ध पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता को उन्होंने स्पष्ट रूप से समझ लिया था। यह पत्रिका 'नीति प्रकाश' नहीं निकल सकी क्योंकि इस विज्ञापन में उन्होंने स्पष्ट रूप से लिख दिया था, "बिना ५०० ग्राहक ठहरे इसका काम शुरू न होगा और ग्राहक ज्यादे होंगे तो इसके पन्ने बढ़ा दिये जायेंगे।" उन दिनों (१८७५ में) इस प्रस्तावित ४० पृष्ठों के मासिकपत्र का वार्षिक मूल्य रु० ६ और ६ आने अलग डाक महसूल रखा गया था। आज भी ऐसे विषय के इस मूल्य के ५०० ग्राहक होना कठिन है। उन दिनों उसके ५०० ग्राहक नहीं मिले, इसमें आश्चर्य नहीं।

अन्त में उनके निर्भीक व्यंग्य और पैनी आलोचना पर संक्षेप में कुछ कह कर इस चर्चा को समाप्त किया जायगा। उस युग में अंग्रेज़ों का जो आतंक था और अंग्रेज़ अधिकारियों को जो अधिकार थे और जिस प्रकार वे उनका प्रयोग करते थे, उसके कारण सरकार की बात तो दूर, अंग्रेज़ों के विरुद्ध भी कुछ कहने का साहस लोगों को नहीं होता था। इस पृष्ठभूमि में उनकी निर्भीकता का मूल्य और भी बढ़ जाता है, विशेषकर जब हम यह विचार करते हैं कि वे उस धनिक वर्ग और रईस वर्ग के थे, जो शासकों की चापलूसी करने का अभ्यस्त था। आप सब फैलन के कोश से परिचित हैं। फैलन साहब ने वह कोश परिश्रम से तैयार किया था। उनका कार्य सराहनीय था। किन्तु भारत सरकार ने उसे अत्यधिक प्रश्रय और पुरस्कार दिया था जो भारतीय लेखकों को नहीं मिलता था। दूसरी बात यह है कि इसके पहिले सरकार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' की १०० प्रतियाँ खरीदती थी, किन्तु इसमें 'यती वैश्या संवाद' नामक एक लेख छपा। किसीने सरकार को सुझाव दिया कि वह अश्लील है। अतएव सरकार ने चन्द्रिका लेना बन्द कर दिया था। इसी प्रकार एक यूनानी तिब्बी पुस्तक में बाजीकरण विषय के वर्णन को अश्लील बताकर वह पुस्तक अंग्रेज़ अधिकारियों ने काशी के एक अर्द्ध सरकारी पुस्तकालय से

हटवा दी थी।

फैलन के कोश में, कोश होने के कारण सभी प्रकार के श्लील और अश्लील शब्द हैं और होने भी चाहिए। इन बातों को ध्यान में रखते हुए भारतेन्दु की फ़ैलन के कोश की आलोचना को देखना चाहिए।

"बड़े पुन्य का फल
उनहत्तर हजार स्वाहा

बड़ा पुन्य करें तब अंग्रेज़ के घर में जन्म लें। गौर वर्ण होने ही से सब बातों में गौरव। हिन्दू लोग लाख किताब बनावें, इससे क्या होता है। अंग्रेज़ होने ही से किताब बनाया नहीं कि उसमें सब गुण हो जाते हैं। आप लोगों ने कभी श्रीयुत सा० फैलन साहब की डिक्शनरी देखी है? न देखी हो तो जरूर देख लीजिये। उसमें आप लोगों से टिक्कस वसूल कर-कर के सरकार ने उनहत्तर हज़ार छः सौ रुपये दिये हैं। सब मिलाकर तेरह सौ बानबे कापी इसकी पचास पचास रुपये सरकार ने खरीदी है, जिसमें ६ सौ कापी तो सिर्फ़ बंगाल गवर्नमेंट ने ली हैं। इस किताब में सब मिला कर ग्यारह सौ पेज हैं जिनके अठपेजी एक सौ पौने उन्तालिस फार्म हुए। इसकी अच्छी छपाई, कागज, कटाई, बंधाई वगैरह यदि बीस रुपये फार्म रखिये तो अट्ठाइस सौ रुपये हुए। बाकी बासठ हजार आठ सौ पचास रुपये क्या हुए? फैलनाय समर्पयन्ति अंगरेजत्वात्। हाय! यह नहीं सोचा गया कि यह एक-एक रुपया हिन्दू प्रजागण का एक एक रुधिर बिन्दु है। हम यह नहीं कहते कि सा० फैलन को उनके इतने बड़े परिश्रम के बदले कुछ न दिया जाता। बड़ा इनाम ऐसे परिश्रम का दस हजार रुपया बहुत है। तब भी छप्पन हजार से अधिक सरकारी रुपया बचता। लोग आँख खोल-खोल कर सरकार की इस उदारता का दर्शन करें। लोग अपने काम की निन्दा नहीं करते कि हिन्दू कुल में क्यों जन्म हुआ है। हमारी सरकार ही की निन्दा करते हैं।

एक बात और सुनिए। सभ्यता तो इस कोश में कूट-कूट कर

भरी है। कबीर, होली की गाली, जो जो चाहिए सब लीजिए। जब बनारस की पब्लिक लाइब्रेरी में जो ब्रजभूषण दास के दूकान के बगल में थी, कैम्पसन साहब इस देश के डाइरेक्टर एक बेर वहाँ आये थे। 'शरहे बदर चारण' एक फ़ारसी की किताब है। उसे देखकर आप बड़े खफा हुए और फर्माया 'ऐसी नंगी किताब आम कुतुबखाने में न रखनी चाहिए।' यह कह कर आपने उसमें से बाजीकरण का प्रसंग निकाल कर दिखलाया। हरिश्चन्द्र चन्द्रिका की १०० कापी पहिले गवर्नमेन्ट लेती थी। इसमें जो 'यती वैश्या सम्वाद' छपा था, वह सभ्यता के विरुद्ध था। इस वास्ते गवर्नमेन्ट ने उसका लेना बन्द कर दिया। (वास्तव में उस सम्वाद में एक शब्द भी सभ्यता के विरुद्ध नहीं था।) किन्तु इस कोश में जो साफ साफ निरावरण आईने की तरह नंगी बातों का वर्णन है, और नंगे शब्द हैं, उनमें दोष नहीं क्योंकि वह अंग्रेज़ लेखनी निर्गलित है। इस समय लज्जा और सभ्यता हाथ न पकड़ती तो अपने पाठकों को कुछ उसके उदाहरण हम भी सुनाते।"

उनके व्यंग्य और अंग्रेज़ों संबंधी विचारों का उदाहरण १८७४ की जून की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित एक अन्य लेख से मिलता है। यह है 'रुद्री की टीका।' उसका आरंभिक अंश इस प्रकार है:

"क्या लोगों को यह ज्ञात नहीं है कि वेदों में हमारे इस समय के महाराजाधिराज, प्राणदाता, हितकर्त्ता अंग्रेज़ों की भी स्तुति लिखी है? यदि ज्ञान न हो तो वे मुझसे सुनें। चारों वेदों में केवल इन्हींका वर्णन है। यदि माधवाचार्य के इतना समय मुझे मिलता तो मैं चारों वेद का भाष्य बनाकर सिद्ध कर देता। यहाँ मैं केवल रुद्री का अर्थ दिखलाता हूँ जो हमारे भविष्यद्वक्ता वेदकर्ताओं ने हिन्दू प्रजा को इनसे बचने के लिए पहिले ही से लिख छोड़ा है:

नमस्ते रुद्रमन्यव—
उतोदुत इषवे नमः
नमस्ते अस्तु धन्यने
वाहुन्भ्यामुत ते नमः

हे रुद्र, अर्थात् धन बलादि हरण करके रुलानेवाले अंग्रेज़, तुम्हारे क्रोध और वाण, धनुष और बाहुओं को नमस्कार है।

सबसे पहिले क्षमा माँग कर प्राण बचाने के हेतु क्रोधाधिक को नमस्कार किया है।" इसी व्यंग्य शैली में सारा लेख लिखा गया है।

१८७४ में जब अंग्रेज़ों की खुशामद और अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने की होड़ लगी थी, तब उन्हें सार्वजनिक रूप से धन, बल आदि का हरण करके रुलाने वाला कहना और उसे प्रकाशित कर देना बड़े साहस और निर्भीकता का काम था।

अंग्रेज़ों की इस प्रकार धन, बल, आदि हरण करने की भर्त्सना करने का जो क्रम हिन्दी साहित्य में हरिश्चन्द्र के समय से प्रकट होने लगा, और वह भी कांग्रेस के वर्षों के प्रचार और स्वदेशी आन्दोलन की वेगबती आँधी से बहुत पहले, उसके अग्रगामी होने का श्रेय भारतेन्दु को है।

पराधीनता राजनीतिक दृष्टि से हमारे आत्मसम्मान को बराबर ठेस पहुँचाती रही। अंग्रेज़ों की पराधीनता, मुसलमानों की पराधीनता से हिंदुओं के लिए बहुत बेहतर थी किंतु फिर भी उससे उत्पन्न आर्थिक शोषण को भी जनता अनुभव करती रही यद्यपि उसकी भावना को साहित्य में वाणी नहीं मिली थी। भारतेन्दु पहिले साहित्यकार थे जिन्होंने इस आर्थिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। 'पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी' आदि अनेक पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं। शासन की आर्थिक नीतियों की ओर ध्यान देकर साहित्य को आधुनिक दृष्टिकोण देने में भारतेन्दु ने अग्रगामी सफल नेता का काम किया। इतना ही नहीं, भारत दुर्दशा आदि नाटक, प्रहसन आदि चन्द्रिका में प्रकाशित कर उन्होंने भारत की दुर्दशा का असली स्वरूप जनता को बताया। साथ ही उन्होंने हिन्दुओं को देश के अतीत के गौरव का ज्ञान देने का प्रयत्न किया। उन सब के उदाहरण देना इस छोटे से निबन्ध में सम्भव नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने अनेक प्रकार से हिन्दी साहित्य, हिन्दीभाषा और हिन्दी पत्रकारिता को युगों क अन्धकार,

अज्ञान और पिछड़ेपन से निकाल कर आधुनिकता के मार्ग पर अग्रसर किया। इन्हीं कारणों से हम भारतेन्दु को 'आधुनिक हिन्दी का पिता' और उसको आधुनिक बनाने वाला मानते हैं।

दूसरा काम जो उन्होंने किया वह हिन्दी प्रचार का था। वे सदैव व्याख्यानों और लेख आदि लिखकर जनता में अपनी मातृभाषा के प्रति प्रेम और चेतना जागृत करते रहे। उनका बलिया का लेक्चर इसका प्रमाण है। इसी प्रयाग में उस समय देवकीनंदन त्रिपाठी आदि ने हिन्दी प्रवर्द्धिनी सभा बनायी थी। उसकी एक सभा जो महाजनी टोले के उस मकान में हुई थी, जिसमें प्रसिद्ध पं० अयोध्यानाथ वकील रहते थे, उसमें भारतेन्दु ने अपना भाषण दोहों में दिया था। उस भाषण का एक दोहा बाद के हिन्दीभाषियों के लिए मूल मंत्र बन गया :

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल,
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय कौ शूल।

उनके चमत्कारिक और आकर्षक व्यक्तित्व के प्रभाव ने कितने ही लोगों में हिन्दी साहित्य और भाषा के प्रेम को जगाया। इस संबंध में प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी आदि कुछ नामों का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। वैसे तो सारे हिन्दी भाषी क्षेत्र में राजस्थान से लेकर बिहार तक उन्होंने हिन्दीभाषा के प्रेम की एक शक्तिशाली और उत्तुंग लहर उत्पन्न कर दी थी। उन्होंने एक काम और किया। पहिले कविगण अपनी कविताएँ सामन्तों या राज दरबारों में सुनाया करते थे। जनता को वह सुख नहीं मिलता था। काशी रसिक समाज उन्हींकी प्रेरणा से बना, जो बाद में बहुत दिनों पं० अम्बिकादत्त व्यास के मार्गदर्शन में चलता रहा जिसमें कवि एकत्र होकर समस्या पूर्तियाँ सुनाते थे। इसका अनुकरण अन्यत्र भी हुआ। धीरे-धीरे इनमें अन्य काव्यप्रेमी श्रोता भी आने लगे और अन्त में आगे चलकर इन कवि गोष्ठियों ने कवि सम्मेलनों का रूप ले लिया, जिन्होंने २०-३० वर्ष पूर्व तक हिन्दी के प्रचार में बड़ा काम किया। अब ये मनोरंजन मात्र हैं।

भारतेन्दु के प्रायः समकालीन पं० अम्बिकादत्त व्यास थे। वैसे वे बिहार में संस्कृत अध्यापक थे, किन्तु काशी से उनका बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। वे बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति थे। संस्कृत और हिन्दी में आशु समस्यापूर्ति करते थे। एक बार वे जयपुर गये और वहाँ आमेर के महल देखे जिसमें प्रसिद्ध शीशमहल है। इसमें छोटे-छोटे हजारों उभरे हुए (उत्तल, कान्वेक्स) शीशे लगे हैं। एक दियासलाई जलाने से एक साथ शीशों में हज़ारों दीपशिखाएँ दीखने लगतीं हैं। दूसरे दिन वे जयपुर नरेश महाराज रामसिंहजी के दरबार में गये। महाराज अच्छे संस्कृतज्ञ थे और उन्हें दर्शनशास्त्र और काव्य में विशेष रुचि थी। तत्कालीन प्रथा के अनुसार व्यासजी को महाराज ने पूर्ति के लिए एक समस्या दी। समस्या थी, 'सहस्त्र शीर्षः पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्'। व्यासजी ने तत्काल कहा:

प्रविष्टे कांच भवने, नरो भवति तत्क्षणात्
सहस्त्र शीर्षः पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।

स्वामी दयानन्दजी के आर्य समाज की प्रतिक्रिया में जो सनातन धर्म का आन्दोलन हुआ, उसके वे प्रमुख स्तम्भ थे, और श्रद्धाराम फुल्लौरी तथा व्याख्यान वाचस्पति पं० दीनदयाल शर्मा के बीच के सबसे बड़े सनातनधर्मी प्रचारक और व्याख्यानदाता व्यासजी थे। वे कवि थे और उनमें उच्च कोटि की साहित्यिक प्रतिभा थी। उन्होंने अपने संस्कृत के नाटकों के अनुवाद में श्लोकों के अनुवाद कहीं कहीं खड़ी बोली पद्य में भी किए। वे 'पीयूष प्रवाह' नामक मासिक पत्र निकालते थे। 'पीयूष प्रवाह' धर्म प्रधान पत्र था और उसमें अनेक धार्मिक लेख छपते थे। किन्तु साहित्यिक महत्व के लेखों को भी काफी स्थान दिया जाता था। उसकी एक विशेषता थी कि उसका वार्षिक मूल्य डाक खर्च समेत केवल आठ आना था। मार्च १८६२ में उसने होली पर एक छोटा सा लेख निकाला था जिसमें उस समय के सभी प्रमुख पत्रों के नाम आ गये थे। वह व्यासजी की शैली का अच्छा परिचायक है। वह लेख यह है:

"आज कल होली है। लम्बे लेख का अवकाश नहीं। सब जमा

बाड़ा जमा है। होली के मसखरों की बात सुननी हो तो हिन्दी बंगवासी है, कुछ जादू के तमाशे और चूरन होली चाहिए तो भारत जीवन है, कुछ खरी खरी बातें सुननी हों तो मित्र विलास है, बातचीत की खिचड़ी चाहिए तो खिचड़ी समाचार है, वारांगना रहस्य की इच्छा हो तो ब्राह्मण है, अत्र भवान के दरबार देखने हों तो हिन्दोस्थान है, ताने बाने सुनने हों तो हिन्दी प्रदीप है, गप्पियों की फोलसंखी की नकल देखनी हो तो आर्यावर्त है, नखरे पसन्द हों तो भारतेन्दु है, पंडित का स्वांग चाहें तो विज्ञ वृन्दावन है, आग में जलाने को गोइंठा चाहिए तो तिमिर नाशक है, राख धूल चाहिए तो राजस्थान समाचार है, सच्ची सच्ची तीती मीठी सुननी हो तो विद्यार्थ धर्म दीपिका है, फिर भी खाली हो तो लीजिए बिहार बन्धु है, पुराना चंडूल चाहिए तो भारत मित्र है और रंग में भींगना हो तो यह आपके पीछे लगा आपका प्यारा पीयूष प्रवाह है। चिढ़ना मत यारो होरी है, होरी होरी है अ र र र र र र।।''

इस पत्रिका में मौलिक नाटक जैसे 'पढ़े पढ़े पत्थर' जिसमें तत्कालीन संस्कृत पाठशालाओं का व्यंगात्मक खाका खींचा गया है, वेणी संहार नाटक का अनुवाद, हिन्दी प्रचार सम्बन्धी लेख, जैसे 'कचहरी में नागरी', सामयिक घटनाओं पर टिप्पणियाँ, जैसे भागलपुर की सड़कों की दुर्दशा, काशी के नलों की अवस्था आदि पर भी लेख और टिप्पणियाँ छपती थीं। धार्मिक लेख विद्वतापूर्ण और संस्कृत वहुल भाषा में होते थे, किन्तु अन्य लेखों की भाषा सरल और प्रांजल खड़ी बोली होती थी। कविताएँ अधिकांश अपनी, और नये तथा पुराने कवियों की ब्रजभाषा में होती थीं, किन्तु कभी-कभी खड़ी बोली की कविताएँ भी छपती थीं, जैसे ये दोहे देखिए :

दीन दुखी असहाय का करो सदा उपकार
जानो वेद पुरान का यही एक है सार।
चन्दन तरु के संग से होता चन्दन और
तू भी सज्जन संग कर होवेगा सिरमौर।

उन्हे सबसे पहिले हिंदी शीघ्र लिपि (Stenography)

की एक प्रणाली सफलतापूर्वक आविष्कृत करने का भा श्रय है।

इसमें उनकी प्रसिद्ध लम्बी कहानी, जिसे कुछ लोग उपन्यास की भी संज्ञा देते हैं, छपी थी जिसका नाम 'आश्चर्य वृतान्त' था। उसका आरंभ इस प्रकार होता है:

"चित्रकूट से कुछ दक्षिण को झुकते, पुष्करिणी तीर्थ के पास विराध नामक एक तीर्थ है। वहाँकी भूमि भू पहाड़ों के कारण अत्यन्त कठिन और पाषाणमय है। वहाँ लगभग सोलह सत्रह, हाथ की चौड़ाई का एक कुआँ ऐसा गहरा है कि उसे देखने ही से ऐसा आश्चर्य होता है कि इन चट्टानों को तोड़ कर इस घोर जंगल में यह किस बली ने खुदवाया है। वहाँ यह बात प्रसिद्ध है कि श्री रामचन्द्र जी ने विराध राक्षस को जो गड़हा करने के लिए पृथ्वी में बाण मारा, तो पाताल तक छेद हो गया था, सो यही है। अब तक लोग उसमें बड़े बड़े पत्थर के ढोंके छोड़ते हैं, पर वह इतना गहरा है कि खड़का तक नहीं सुन पड़ता। वह कितना गहरा है और कैसा है इसके निश्चय करने को अंग्रेज़ लोग बहुत दिनों से पीछे पड़े हैं पर अभी तक कुछ पता नहीं लगा। १ मार्च, १८८४ को अमरीका के प्रसिद्ध प्रोफेसर लुफ लर्वा वहाँ पहुँचे, उसीके पास तम्बू डेरा डाला और दूरबीन लगा नाप जोख कर यह निश्चय किया कि किनारे की तरफ चारों ओर सन्धियों से अनेक घास फूस और पेड़ वगैरह निकल आये हैं। यदि किसी किनारे से कुछ लटकाया जायेगा तो उन झाड़ झंखाड़ों में फंस जायेगा। इसलिए जैसे कुए में घरारी पर बड़ा घड़ा लटकाया जाता है, वैसे ही एक बड़ी घरारी पर से कल के द्वारा एक भारी लंगर इसके बीचोबीच लटकाया जाये। उसीसे उसकी गहराई का पता लगेगा। बस ५ तारीख को कल और लंगर मंगाने के लिए बम्बई पत्र भेजा गया और १४ तारीख को सब सामान आ पहुँचा और ३१ तारीख मार्च तक खोद-खाद गाड़-गूड़ कर घरारी ठीक जमा दी गयी।

अब २ अप्रैल को सबेरे ७ बजे प्रोफेसर साहब के साथ और कई अंग्रेज़ लोग चारों ओर दूरबीन ल लेकर बैठे और घरारी पर से ४५

मन का लंगर लटकाया गया। उस गड़हे में बड़ा ही घोर अन्धकार था, इसलिये प्रोफेसर साहब ने इस लंगर में एक बड़ा लैम्प भी बाँध दिया था कि ज्यों ज्यों नीचे जाये त्यों त्यों उजाला भी होता जाये और ऊपर से सब कुछ देख भी पड़ता जाये। बस धीरे धीरे लंगर लटकने लगा और उस अंधेरे में के पेड़, झाड़ झंकाड़, मकड़ियों के जाले, सांपों की केचुलियाँ, बिल और सन्धों में बैठे बिच्छू आदि जन्तु देख पड़ने लगे। साहब देख देख अपनी बही में कुछ लिखते जाते थे और वह लटकता जाता था। यहाँ तक कि दूर होने के कारण अन्त में वह लंगर केवल एक गुब्बारे या तारा ऐसा चमकने लगा और उसके चारों ओर अंधेरा देख पड़ने लगा।

"नौ बजने के समय साहब ने निश्चय किया तो वह लंगर दो माइल और तीन सौ गज नीचे जा चुका था। जब पंद्रह मिनिट और बीते तब वह लंगर एकाएकी लटकने से रुक गया और साहब ने हिसाब किया तो उतनी देर में ४५० गज और नीचे पहुँचा था। अर्थात् कुल दो माइल ७८७ गज नीचे पहुँचा था।

"जब उन लोगों ने यह निश्चय किया कि अब लंगर का नीचे की ओर लटकना किसी प्रकार नहीं हो सकता तो हार कर ऊपर ही खींचने लगे। पर खींचने के समय उस लंगर का बोझा बढ़ जाना देख साहब को और और लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और चकचिहा कर देखने लगे, लंगर के साथ उलझा पुलझा क्या आता है।

"फिर क्रम से पहले धीरे धीरे उस लंगर की लालटेन चमकने लगी, फिर उसका भी कुछ कुछ आकार देख पड़ने लगा फिर जब तक लोग एक टक लगा कर देखते ही हैं तब तक तो उस गड़हे से एक बड़ी गूंज के साथ ध्वनि भी आने लगी। तब तो सभों को और भी आश्चर्य हुआ और ध्यान दे कर सुनने से जाना गया कि 'धीरे धीरे' यह शब्द है। साहब के आदमी के शब्द निश्चय होते ही लंगर धीरे धीरे खींचा जाने लगा। फिर जाले और सूखी लताओं के साथ एक आदमी उस लंगर से चिपट रहा है, देखते ही साहब ने और और

लोगों ने भी उसे धीरज धराया कि 'घबराओ मत, लंगर को जोर से पकड़े रहो।

"ज्यों ही लंगर ऊपर आया त्यों ही कल बल से साहब ने उस आदमी को लंगर से उतारा और उसके जाले छुड़ा धूल झाड़ी, पर वह मारे घबराहट के एकाएकी अचेत सा होकर हांफता हुआ लेट गया।

"उसके कपड़े लत्ते से जान पड़ता था कि वह राजपूताने की ओर का रहने वाला, किसी भले घर का आदमी है। झट छाया में ले जाकर, लोगों ने पानी के छींटे मार, हवा कर ठंढा किया। घंटे भर में वह अपने में आया। जल पीने के अनन्तर उसने पूछा कि यह कौन सा स्थान है। समीप कौन पहाड़ी है ? यहाँ से गया जी कितनी दूर है ? और आप लोग क्यों जुटे हैं ?"

इस कहानी की भाषा सरल, मुहावरेदार और चित्ताकर्षक है तथा उसमें कल्पना के साथ पाठक में उत्सुकता जागृत होती है। यह अपने ढंग का अनोखा लघु उपन्यास है। खेद है कि हिन्दी के विद्वानों का इसकी ओर समुचित ध्यान नहीं गया।

पं० बालकृष्ण भट्ट का हिन्दी प्रदीप हिन्दी पत्रकारिता के जगत में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मासिक पत्र था, जिसे प्रायः ५० वर्ष तक उन्होंने निरंतर घाटा सहकर हिन्दी की सेवा की प्रेरणा से निकाला। उसमें उच्च कोटि के साहित्यिक निबन्ध, कहानी, कविताएँ आदि तो निकलती ही थीं, साथ ही यही एक मासिक पत्र था जो हिन्दी संसार में राजनीतिक चेतना जागृत करने में सतत संलग्न रहता था। भट्टजी कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक थे। वे अपने अल्प वेतन से अपना और अपने परिवार का पेट काट कर इसे घाटा सह कर निकालते रहे। हिन्दी पत्रकारिता की इतनी लम्बी निष्काम सेवा का हम दूसरा उदाहरण नहीं जानते। उसमें भट्टजी ने अपने स्वास्थ्य, अपनी आँखों की ज्योति और अपनी सारी कमाई लगा दी। उन्हें बहुत कम लेखकों से सहयोग मिलता था। पं० श्रीधर पाठक ऐसे व्यक्ति थे जो उसमें नियमित रूप से लिखत थे, किन्तु उस समय वे

इस प्रान्त के सचिवालय में कर्मचारी या अधिकारी थे। इसलिए उनके लेख बिना नाम के छपते थे। मरने के पहिले उन्होंने अपने इन लेखों की अपने हाथ से सूची बनायी और उन लेखों का संकलन किया जो मुझे उनके पौत्र डा० पद्मधर पाठक ने दिया है और मेरे पास सुरक्षित है। वह प्रकाशन की अपेक्षा करता है और यदि हिन्दुस्तानी एकेडेमी ऐसी संस्था उसे प्रकाशित कर सके तो जो श्रीधर पाठक, जो अभी तक केवल कवि समझे जाते हैं, निबन्धकार और गद्य लेखक के रूप में भी हिन्दी जगत के सामने आ जायें।

पं० बालकृष्ण भट्ट की भाषा उस समय परिनिष्ठित मानी जाती थी और उन्होंने कितने ही नवयुवकों को हिन्दी सेवा की दीक्षा दी, जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हैं। फ़ारसी और उर्दू के विद्यार्थी होते हुए भी वे भट्टजी के समान पारस के स्पर्श से हिन्दी के खरे सुवर्ण हो गये। मेरे पूज्य पिताजी को भी लिखने की प्रेरणा उन्हीं से मिली थी और उनके पहिले दो लेख प्रदीप ही में छपे थे। वे भारतेन्दु के अनन्य भक्त थे, और उनका हिन्दी प्रेम भारतेन्दु के सम्पर्क से और भी पुष्ट और पैना हो गया था। वे संस्कृत के विद्वान थे और उनके लेखों में संस्कृत काव्य के उद्धरणों की भरमार रहती थी तथा उनके लेखों से पाठकों को देश की पुरानी साहित्यिक परम्परा का परिचय प्राप्त होता था। हिन्दी के बाद उनकी रुचि राजनीति में थी। वे गर्म विचारों के राजनीतिज्ञ थे और लोकमान्य तिलक उनके आदर्श थे। उन्होंने हिन्दी प्रदीप में जो साहित्यिक रत्न भर दिये हैं, वे हिन्दी की निधि हैं। उन्होंने 'नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान एक सुजान', नामक कहानियाँ भी लिखीं। द्विवेदी युग के पहिले और भारतेन्दु के बाद, हिन्दी जगत में वे सबसे अधिक आदर से हिन्दी के नेता के रूप में देखे जाते थे। उन्होंने खड़ी बोली गद्य को ५० वर्ष की सतत साधना से माँजा और उन्नत किया। विषय के अनुसार उनकी भाषा संस्कृत बहुल या बहुत सरल चलती भाषा होती थी। हम यहाँ उनकी भाषा और शैली के नमूने के रूप में उनका एक ऐसा लेख प्रस्तुत कर रहे हैं जो आप लोगों को विशेष रूप से रुचिकर होगा। वह भारतेन्दु का एक संस्मरण है।

"सहृदय संमिलन

जरा जर्जरित विविध विपद संपद आधि व्याधि सन्निविष्ट इस क्षणिक जीवन में जब कभी किसी मार्मिक रसज्ञ सहृदय का साथ हो जाय तो वह घड़ी कितने हर्ष और प्रमोद की बीतती है इसका अनुभव जिस भाग्यवान को हुआ हो वही इसे जान सकता है। दो अंगुल की जीभ निगोड़ी की क्या बिसात जो कह सके कि सहृदय संमिलन में क्या सुख है ? महाकवि भारवि ने भी तो एसा ही कहा है: "विमलं कलुषी भवच्चचेतः कथयत्येव हितैषिणां रिपुंवा।" जिसके मिलने से चित्त में विमल भाव उत्पन्न हो सहसा मन की कली खिल उठे उसे मित्र जानो और जिसे देख जी कुढ़ जाय वरन मन मैला हो जाय वह शत्रु है। इसका तो कहना ही क्या कि ऐसे सुयोग्य प्रेमभाजन मित्र संसार में विरले हैं। ऐसे ही कई एक बिरले मित्रों में प्रातः स्मरणीय सुगृहीतनामा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र थे। जिन्हें निःसन्देह मैं अपने मित्रों की पवित्र नामावली का सुमेर कहूँगा। आज न जाने क्यों उनका बिछोह मुझे पीड़ा पहुँचा रहा है। जी चाहता है कैसे एक बार फिर उनसे मिल गले लगाय मैं अपनी छाती ठंढी करूँ। हा ! भारतेन्दु का सरस्वती भंडार मुझे कभी भूल सकता है ? आश्विन मास के नवरात्रि की वह रात्रि या वह महोत्सव जिसे प्रतिवर्ष भारतेन्दु बड़े समारोह के साथ करते थे जो सरस्वती शयन के तीसरे दिन उत्थापनोत्सव के नाम से प्रख्यात है कभी भूलेगा ? जैसी शिष्ट परम्परा चली आयी है 'मूलेनावाह्येदेवीं' श्रवणेन विसर्जयेत्।' शिष्टों में अग्रगण्य हमारे मित्र महोदय भला इस शिष्ट आचरण को कब भूल सकते हैं ? वे जी खोल इस उत्सव को मनाते थे। भाग्यवश मेरा प्रथम संमिलन उनसे इसी उत्सव में हुआ। सरस्वती उत्थापन महोत्सव में मग्न भारतेन्दु की बिखरी अलकावली तथा उनकी मुग्ध मुखछवि अब तक नहीं भूलती। हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में मेरे कई एक लेख उनसे परिचय कराने का हेतु थे। वे लेख बालकों की तोतली बोली में थे, पर उन्हें बहुत रुचे और वे बड़े ही सरल भाव से मुझसे मिले। उस समय मैंने अपने को कृतकृत्य माना। बहुत सी सम्पत्ति मिलने पर भी वह सुख न मिलता जैसा इस सहृदय संमिलन में मुझे

प्राप्त हुआ। फिर तो हमारी और उनकी घनिष्टता बढ़ती ही गयी और बहुत दिनों तक कवि बचन सुधा के ऐसे कोई ही अंक बच गये होंगे जिनमें कोई लेख मेरे न रहे हों। हमारा हृदय अति हुलसित हुआ जब मित्र ने औरों से हमारा परिचय दिलाने में कहा आप ही हैं जिन्होंने मेगज़ीन में 'कालिदास की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल विवाह प्रहसन' आदि कई लेख लिखे हैं। 'पर गुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम् निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः" भर्तृहरि के इस कथन को मित्र ने स्पष्ट कर दिखा दिया। जिनका लेख इस समय हिन्दी साहित्य के भंडार को अलंकृत कर रहा है उनके सामने हम ऐसे क्षुद्रातिक्षुद्र किस गिनती में हैं, किन्तु उत्साह बढ़ाने को मित्र का इतना कहना हमारे लिये बहुत ही उत्तेजक हो गया।

"एक बार हम काशी गये थे उस समय आपके सरस्वती भंडार में पंडित अम्बिकादत्त व्यास भी वहाँ बैठे हुए थे, उनसे हमारा परिचय दिलाते उन्होंने यह आशीर्वाद हमें दिया 'हमारे उपरान्त तुम्हारा ही लेख हिन्दी लेखकों में परिगणनीय होगा।' यों तो काशी और प्रयाग में अठवारों हमारा उनका साथ रहा पर एक बार का संघटन अवश्य लिखने योग्य है।

"यहाँ की छात्र मंडली ने हिन्दीवर्द्धिनी नाम की एक सभा स्थापित की थी। बहुत दिनों तक यह सभा चली। एक बार किसी प्रयोजन से बाबू साहब यहाँ आये थे। सब लोगों ने उनसे प्रार्थना की, आज आपको सभा का लेक्चरार हम नियत करते हैं। बाबू साहब ने सबों की प्रार्थना स्वीकार की और कहा हम पद्य में लेक्चर देंगे। ६ बजे का समय नियत किया गया पर ४ बजे तक कुछ न सोचे थे कि क्या वहाँ कहेंगे। हम लोगों ने जब सुध दिलाई तब एक घंटे में शतरंज खेल रहे थे बात भी करते जाते थे और १०० दोहे लिख डाले जिसके एक एक शब्द में उत्तेजना भरी है, प्रतिभा इसी का नाम है।"

आपने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि इस लम्बे उद्धरण में विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया गया है। कहीं फ़ारसी या अरबी के शब्द 'आम फ़हम' समझे जाने के कारण नहीं आये। फिर भी भाषा में

प्रवाह और सरलता है। अवश्य ही संस्कृत के विद्वान होने के कारण वे संस्कृत के उद्धरण दिया करते थे, किन्तु वे एक तो सरल संस्कृत के होते थे, दूसरे उनका प्रयोग सटीक होता था।

यह विशेषता उस समय के अधिकांश प्रमुख लेखकों में थी। भारतेन्दु काल के दूसरे प्रसिद्ध लेखक प्रतापनारायण मिश्र थे। वे भट्टजी की तरह संस्कृत के विद्वान न थे और वे उर्दू फ़ारसी के भी ज्ञाता थे, किन्तु वे भी अधिकतर अपने लेखों में उस समय की धारणा के अनुसार शुद्ध हिन्दी लिखते थे। मैं उनके एक लेख का एक अंश उनकी भाषा के नमूने के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ :

"हम नहीं जानते कि वे कैसे लोग हैं जो कहा करते हैं, किसी बात में जी नहीं लगता। निश्चय ही वे जी लगाना जानते ही नहीं, नहीं तो सृष्टिकर्ता ने संसार में ऐसे ऐसे सुयोग्य पात्र स्थापित कर रखे हैं जिनमें चित्त आकर्षण करने की सहज शक्ति है। पुस्तकें एक से एक उत्तम अनेकानेक मिल सकती हैं और यदि न मिलें तो दो ही एक पोथी विचारने के लिए वर्षों सहारा दे सकती हैं। सज्जन भी जहाँ ढूँढो वहाँ प्रगट वा प्रच्छन्न रूप में मिलते ही रहते हैं। अकबर बादशाह का स्वभाव था कि वह बालकों, किसानों और अति सामान्य श्रेणी के ग्रामीणों तक की बातें इस विचार से बड़े दत्तचित्त होकर सुना करते थे कि न जाने किसके मुख से कौन सी प्रकृति प्रसिद्ध सुहावनी और शिक्षापूर्ण वार्ता सुनने में आवे। इस धारणा से उक्त नरेश ने बड़ी भारी अनुभवशीलता प्राप्त कर ली थी। अकस्मात कभी किसी स्थल पर सज्जन समागम के अभाव की आशंका से मन मार कर बैठ रहना उचित नहीं है। चार घर के खेड़े में भी एक आधा निरक्षर बुड्ढा ऐसा मिल सकता है जो अनुभव में अच्छे अच्छे नवयुवक विद्वानों से दो चार बातों के लिए अवश्य श्रेष्ठ होगा।"

इसी शैली में लिखने वाले उस समय के अनेक लेखक थे जिनमें दुर्गाप्रसाद मिश्र, देवीसहाय, गोविन्दनारायण मिश्र, रामस्वरूप शर्मा, आदि अनेक नाम लिये जा सकते हैं। इन्हींमें पं० माधवप्रसाद मिश्र की गणना होनी चाहिए, जिनके बारे में हम आगे कहेंगे।

यहाँ एक बात और कह देना आवश्यक है। बालमुकुंद गुप्त, चक्रवर्ती जी, जगन्नाथप्रसाद शुक्ल आदि पत्रकार अपने पत्रों में देश की राजनीति पर अपने विचार प्रकट करते थे। इनमें कुछ नरम और कुछ गरम थे, किन्तु स्वदेशी आन्दोलन के बाद सभी पत्र प्रायः लोकमान्य तिलक के अनुयायी हो गये थे। किन्तु द्विवेदीजी तथा अन्य मासिकपत्रों के अधिकांश सम्पादक तथा साहित्यकार और कवि राजनीति से दूर रहते थे। सरस्वती तो देश की राजनीति की प्रायः चर्चा ही नहीं करती थी। हाँ, हिन्दी पर, या ऐसी सरकारी रिपोर्टों जैसे जनसंख्या, या पुस्तक प्रकाशन आदि पर वह कभी-कभी टिप्पणी कर देती थी। यही हाल अधिकांश अन्य पत्र-पत्रिकाओं का था, और जो पुस्तकें भी लिखी जाती थीं, वे भी 'साहित्यिक' होती थीं। स्वदेशी आन्दोलन का प्रभाव उस समय के अधिकांश साहित्यकारों की पुस्तकों या मासिक पत्रों में बहुत कम प्रतिबिम्बित है। कुछ काम अवश्य आरंभ हो गया था। वंदेमातरम् के जनप्रिय होने पर पूर्णिया के राजा कमलानन्द सिंह ने बंकिम बाबू के आनन्दमठ का अनुवाद करके हिन्दी को उस क्रान्तिकारी उपन्यास से पहिली बार परिचित कराया। सखाराम गणेश देउस्कर की 'देशेर कथा' का अनुवाद भी राधाकृष्ण मिश्र ने किया था। राजनीतिक साहित्य का आरंभ हो गया था। किन्तु अभी उसमें गति नहीं आयी थी। माधवराव सप्रे ने अपनी मासिक हिन्दी निबन्धमाला में ऐसे लेखों को सबसे पहिले नियमित रूप से देना आरंभ किया। वे स्वदेशी आन्दोलन आदि पर राजनीतिक लेख दिया करते थे। उन्होंने उसमें द्विवेदीजी से सुअर्ट मिल की लिबर्टी नामक प्रसिद्ध पुस्तक का अनुवाद कराकर 'स्वाधीनता' के नाम से धारावाहिक रूप से निकाला। सप्रेजी की भाषा कितनी परिनिष्ठित होती थी उसके कुछ नमूने आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। 'वर्तमान समय में हिन्दी साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए', उसका एक अंश देखिए :

"जब कि यह बात विदित हो चुकी है कि इस समय देश किस प्रकार की संकटावस्था में है तब इस बात का निर्णय सहज किया जा सकता है कि इस देश को वर्तमान संकट से मुक्त करने के लिए देश,

काल, पात्र के अनुसार, हिन्दी साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए। यह बात अवश्य माननी पड़ेगी कि जिस प्रकार का संकट है उसी प्रकार का, संकट निवारण का, उपाय भी होना चाहिए, अर्थात् हिन्दी में वर्तमान समय की आवश्यकताओं के अनुसार, जिन-जिन विषयों का अभाव है उन सब विषयों की पूर्ति का यत्न किया जाना चाहिए। सारांश, वर्तमान समय में, हिन्दी साहित्य इस प्रकार का हो जिसके द्वारा प्रथम हम लोगों को अपने देश की यथार्थ दशा (दुर्दशा) का ज्ञान हो, और फिर उस दशा के सुधारने के मार्गों का बोध हो। जब हम देश की यथार्थ दशा को पहचान लेंगे और उसके सुधारने का उपाय भी जान लेंगे, तभी हम अपने कर्त्तव्य में दक्ष और दत्तचित्त हो सकेंगे। इस समय हिन्दी के सब साहित्यसेवियों को इसी पवित्र कार्य की सिद्धता करनी चाहिए। राजनीति और समाज की बुराइयों का अनुभव रखने वाले, अंगरेजी पढ़े लिखे लोग, जो अपना समय ऐश आराम करने और निरुपयोगी साहित्य लिखने मे बिताते हैं, इस बात को खूब ध्यान देकर सोचें कि उन पर किस तरह की जवाबदेही है। यदि हमारे विद्वान और अनुभवी लोग हिन्दी साहित्य के द्वारा एक जातीयता का बीज, इस आर्यभूमि में, बोने का लग्गा लगा दें तो, समय पाकर, इस बीज को अंकुरित करने तथा उसके मीठे फल का स्वाद लेने वाले बहुत निकल पड़ेंगे। जहाँ एक बार रास्ता मालूम हो गया, फिर आवागमन की कुछ कमी नहीं है। इतिहास, राज प्रबन्ध, सामाजिक संस्था, स्वाधीनता, स्वदेशाभिमान, राजनैतिक वादानुवाद, वैज्ञानिक खोज, इत्यादि बातें अभी निरी हिन्दी जानने वाले लोगों को जरा भी नहीं मालूम। यही अज्ञानता हम लोगों की अवनति की जड़ है। हिन्दी साहित्य के भावी वृक्ष के लिए यही मैदान खाली है।"

सप्रेजी के इस सर्वेक्षण और उद्बोधन का महत्व तभी ठीक तरह से समझ में आ सकता है जब उस समय की पत्रिकाओं और प्रकाशित होने वाले ९५-९६ प्रतिशत पुस्तकों को देखा जाय।

'स्वदेशी आन्दोलन और बायकाट' पर लिखते हुए उन्होंने एक जगह कहा था:

"जिस देश में न्याय करने वाले न्यायाधीश और शिक्षा देने वाले गुरु राजसत्ताधिकारियों के अधीन रहते हैं, उस देश में न तो यथार्थ न्याय हो सकता है और न सत्य विद्या प्राप्त हो सकती है। न्याय देवता की स्वाधीनता और गंभीरता, तथा सरस्वती देवी की रमणीयता और महिमा तभी तक पवित्र रह सकती है जब तक वह राजसत्ताधिकारियों के दास की दासी न हो। इन सब बातों को खूब सोच समझ कर हमने यही निश्चय किया है कि न तो सरकारी कालिजों के और न उपर्युक्त प्राइवेट कालिजों के अध्यापक हमारे यथार्थ गुरु हैं।

"जापान के इतिहास से यह बात विदित होती है कि जापानी विद्यार्थियों ने यूरोप की विद्या विदेशियों के द्वारा प्राप्त की, परन्तु स्वदेशाभिमान, स्वदेशभक्ति, स्वदेशप्रीति और स्वदेशोन्नति के तत्वों की शिक्षा उन लोगों ने फुकुजावा, टोगो, इटो आदि अनेक जापानी वीरों अर्थात् अपने देश भाइयों ही से प्राप्त की। क्या इस उदाहरण से हम लोगों को कुछ शिक्षा न लेनी चाहिए?

"हिरन्यकश्यप और उसके पुत्र प्रह्लाद की पौराणिक कथा प्रसिद्ध है। हिरन्यकश्यप ने प्रह्लाद की शिक्षा के लिए, अपने मत के अनुसार, अनेक गुरु नियुक्त किये थे। परन्तु प्रह्लाद के मन में जिस श्रीकृष्ण भगवान की भक्ति और प्रीति थी उस विषय की शिक्षा उक्त गुरुओं में से किसी एक ने भी न दी, उस समय उसने जो कुछ कहा है उसका वर्णन वामन पंडित नाम के कवि ने मराठी में इस प्रकार किया है:

हे तों गुरू पापतरू म्हणावे
अंधाहुनी अंध असे गणावे।
दे प्रीति कृष्णें गुरु तोच साच
श्रुत्यर्थ इत्यर्थ असे असाच।

इसका तात्पर्य यह है, ये गुरु पापतरु (पाप वृक्ष) हैं। इनको अंधों से भी अधिक अंधा समझना चाहिए। जो गुरु श्रीकृष्ण के संबंध में प्रीति की शिक्षा दे वही सच्चा गुरु है, यही श्रुति का अर्थ है। जिस

प्रकार प्रहलाद के उक्त गुरु कृष्ण भक्ति विषयक शिक्षा देने के काम में निरुपयोगी थे, उसी प्रकार हमारे वर्तमान समय के गुरु, अपने छात्रों को स्वदेशभक्ति की शिक्षा देने के काम में निरुपयोगी हैं। और जिस प्रकार कृष्ण भक्ति की इच्छा रखने वाले प्रहलाद ने अपने पिता के नियत किये हुए गुरु की कुछ परवा न की, उसी प्रकार हमारे देशाभिमानी छात्रों को भी अपने उन अध्यापकों की कुछ परवा न करनी चाहिए जो सरकारी गुलाम बन बैठे हैं। यदि ऐसा न किया गया तो परिणाम यह होगा कि हिन्दुस्तानियों को दासत्व ही में अपना सब जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। मनु ने स्त्रियों के संबंध में लिखा है "पितारक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने। पुत्रास्तु स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।" बोध होता है कि ठीक इसी प्रकार का नियम सरकारी शिक्षा प्रणाली के अनुसार, हम लोगों के लिए भी बन गया है। इस राजनीति का, नीचे लिखा हुआ श्लोक ध्यान में रखने योग्य है:

"बाल्ये राजगुरुर्यन्ता, यौवने भृतिदो नृपः
ततः पेंशनदाता च न हिन्दुः प्रभुरात्मनः

"कोई हिन्दुस्तानी अपनी आत्मा का प्रभु नहीं हो सकता। खेद है, अत्यन्त शोक है कि यह बात हमारे देशभाइयों के ध्यान में नहीं आती। जो गुरु उक्त नीति के अनुसार हमारे छात्रों को शिक्षा देते हैं, वे यथार्थ में हमारे गुरु नहीं हैं। उनकी सहायता की अपेक्षा न करते हुए हमें अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। यदि कोई छात्र ऐसे गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता तो आज्ञा भंग का दोषी नहीं हो सकता।"

गद्य की जिस ऊँचाई, उसके प्रवाह, उसकी प्रांजलता, उसकी अभिव्यक्ति की स्पष्टता, शब्दों के चयन का जो उदाहरण उनकी भाषा में मिलता है, वह आज भी स्पृहणीय है। उससे स्पष्ट है कि खड़ी बोली गद्य में पूरी तरह से प्रौढ़ता आ गयी थी। भाषा के अतिरिक्त सप्रेजी ने अधिकांश हिन्दी साहित्यकारों को जो साहित्यिक विवादों और ललित साहित्य के निर्माण में, देश की ज्वलंत समस्याओं को

आँखों से ओट कर, लगे हुए थे, मधुर ढंग से फटकारा भी है और उन्हें मार्गदर्शन दिया है। वास्तव में वे हिन्दी में राजनीतिक साहित्य के यदि जनक नहीं तो बहुत बड़े प्रचारक अवश्य थे। उनका प्रभाव भी उस समय के, विशेषकर मध्यप्रदेश के, नवोदित साहित्यकारों पर पड़ा। उनके शिष्यों और अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक थी। किन्तु उनके सबसे प्रसिद्ध शिष्य और अनुगामी माखनलाल चतुर्वेदी थे। उस युग का मध्यप्रदेश का कोई भी ऐसा साहित्यकार या हिन्दी-प्रेमी न था जो उनसे प्रभावित न था, यहाँ तक कि पं० रविशंकर शुक्ल भी उनसे प्रभावित थे। एक पूरी पीढ़ी उनकी अनुगामी थी।

पं० माधवप्रसाद मिश्र उस समय के एक अन्य साहित्यिक महारथी थे।

अब पं० माधवप्रसाद मिश्र की कुछ चर्चा करूँगा। इन्होंने ३४ वर्ष से भी कम की आयु पायी। वे भिवानी (हरियाना) के निवासी थे। माधवप्रसाद जी मिश्र संस्कृत के, विशेषकर दर्शन के बड़े गंभीर पंडित थे। वास्तव में वे गद्य लेखक अधिक और कवि कम थे। वे बंगला भी जानते थे। अंग्रेज़ी नहीं जानते थे, फिर भी वे इतने जागरूक विद्याव्यसनी थे कि पाश्चात्य विद्वान संस्कृत के संबंध में क्या लिखते हैं, उसकी जानकारी प्राप्त कर लेते थे। 'बेवर का भ्रम' नामक निबंध इसका प्रमाण है। वे संस्कृत के पाश्चात्य विद्वानों के बहुत से मतों और निष्कर्षों से सहमत न थे और उनके विरोधी थे। इसके विपरीत, द्विवेदीजी पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के निर्णयों और व्याख्याओं को ठीक समझते थे। इसीलिए दोनों में नहीं पटती थी और द्विवेदीजी उनके बड़े विरोधी हो गये थे। मिश्रजी ने देवकीनन्दन खत्री के कहने से 'सुदर्शन' मासिक पत्र का सम्पादन किया जो दो-तीन वर्ष ही चला। पर अपने अल्प जीवन में ही वह समादृत हो गया था। उपदेश कार्य में सतत भ्रमण के कारण वे जमकर उसका सम्पादन नहीं कर सकते थे। फैजाबाद के तत्कालीन प्रसिद्ध रईस लाला बलदेवदासजी ने उन्हें बुलाकर बहुत दिनों अपने पास रखा और उनसे हिन्दू दर्शन शास्त्र की शिक्षा ली। उस समय की एक मनोरंजक घटना यह है कि बलदेवदासजी के तीन पुत्र थे। बड़े का नाम लालजी, मझले का

आर्शीवादी लाल और छोटे का पुराना नाम मैं भूल गया हूँ। जब मिश्रजी फैजाबाद में लालाजी के पास रहे तब उन्हें उनके लड़कों के ये नाम पसंद न आये, और उन्होंने उनका नया नामकरण करके उनके नाम क्रमशः महेन्द्रदेव, नरेन्द्रदेव और योगेन्द्रदेव रखा। ये नरेन्द्र देव वही थे, जो बाद में आचार्य नरेन्द्रदेव के नाम से गंभीर विचारक और नेता के रूप में प्रसिद्ध हुए। मैंने यह बात अपने पिताजी से सुन रखी थी क्योंकि माधवप्रसादजी उनके अभिन्न मित्र थे। एक बार मैंने आचार्य नरेन्द्रदेवजी से इस घटना की सत्यता पूछी तो उन्होंने स्वीकार किया कि वास्तव में उनका नाम मिश्रजी ही का रखा हुआ था। मैंने मिश्रजी के दर्शन अनेक बार किये थे। वे छः फुट से भी कुछ अधिक लम्बे थे। उनके छोटे भाई राधाकृष्ण जी उनसे भी २।३ इंच लम्बे थे। इस शारीरिक ऊँचाई के साथ-साथ उनमें हृदय की विशालता तथा बुद्धि की प्रखरता भी असाधारण थी। उनमें नैतिक साहस और तेजस्विता भी अपूर्व थी। उन दिनों आर्य समाज की प्रतिक्रिया में सनातनधर्मियों ने भी संगठित होकर आन्दोलन करना आरंभ कर दिया था। स्वामी ज्ञानानन्द और व्याख्यान वाचस्पति दीनदयालशर्मा इस आन्दोलन के प्रमुख नेता थे और उन्हें दरभंगा के महाराज रामेश्वरप्रसाद सिंह का सहयोग प्राप्त था। माधव प्रसादजी भी उनके साथ सहयोग करते थे। दिल्ली में सनातन-धर्मियों का एक वृहद सम्मेलन हुआ जिसमें तत्कालीन कश्मीर नरेश महाराज प्रतापसिंहजी भी पधारे थे। उस समय नरेशों का क्या दबदबा था, वह हम आज प्रीवी पर्स और विशेष अधिकारों से वंचित मरे हुए सिंहों या फण और मणिविहीन नागराजों को देखकर नहीं समझ सकते। तिसमें कश्मीर नरेश तो 'इन्द्र-महेन्द्र' कहलाते थे। वे आकार में सबसे बड़े हिन्दू राज्य के अधिपति थे। उन्होंने कोई ऐसा प्रस्ताव रखा जो बहुत से सनातनधर्मी श्रोताओं और पंडितों को अच्छा न लगा, किन्तु उस युग में सार्वजनिक सभा में खड़े होकर एक नरेश, और वह भी काश्मीराधिपति का प्रतिवाद करने का साहस कल्पना से परे था! किन्तु माधवप्रसादजी मिश्र ने तत्काल खड़े होकर बड़े ही स्पष्ट किन्तु शिष्ट शब्दों में उनका कड़ा प्रतिवाद

किया और महाराज को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा। यह उनकी तेजस्विता का एक उदाहरण है। वे मारवाड़ियों के पुरोहित वंश में थे किन्तु वे उनमें उस समय व्याप्त अनेक कुरीतियों का डटकर विरोध करते थे और इस बात की परवाह नहीं करते थे कि इससे उनकी आर्थिक क्षति होगी।

माधवप्रसाद मिश्र कट्टर सनातनधर्मी और पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के आलोचक थे। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के धार्मिक विचार बदल चुके थे और वे पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के कथनों को प्रामाणिक मानते थे। दोनों ही तेजस्वी थे। अतएव दोनों में खटपट रहा करती थी। द्विवेदीजी ने पहिले उनका विरोध किया किन्तु उन्हें करारा उत्तर मिला। बाद में उनकी उपेक्षा की और चूँकि हिन्दी संसार में उनके वर्चस्व छा जाने के बाद वे ही लोगों को उभार या दबा सकते थे, माधवप्रसाद मिश्र की हिन्दी सेवाओं का ठीक मूल्यांकन नहीं हुआ। उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं विशुद्धानन्द चरितावली, हिन्दू दर्शन, परमहंस रामकृष्ण की जीवनी, सम्राट विक्रमादित्य आदि। इन पुस्तकों से उनके हिन्दू दर्शन और इतिहास के गहन ज्ञान तथा पैनी विवेचक दृष्टि का पता लगता है। इनके अतिरिक्त उनके अनेक सुंदर और विचारपूर्ण निबन्ध हैं जो हिन्दी साहित्य के गौरव हैं। उनके अनेक निबन्ध (जो मेरे पूज्य पिताजी ने 'माधवप्रसाद मिश्र निबन्धावली' के नाम से सम्पादित किये हैं) उनके पांडित्य, खड़ी बोली पर उनके अधिकार और शैली के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने बड़ी सुन्दर किन्तु सरल भाषा और शैली में ५, ७ कहानियाँ भी लिखी हैं, जिनका संग्रह प्रकाशित हो चुका है। सुदर्शन के अतिरिक्त उन्होंने बिना अपना नाम दिये शिवचन्द्र भरतिया के चले जाने पर वैश्योपकारक के व्यवस्थापक और अपने मित्र श्री रामलाल नैमाणी के कहने से काफी दिनों उसका सम्पादन किया और उसमें मारवाड़ी समाज की कुरीतियों के विरुद्ध बहुत कुछ लिखा। किन्तु इसके साथ ही वे कवि भी थे और हरियाना के निवासी होने तथा संस्कृत से सीधे खड़ी बोली में आने के कारण बड़ी प्रांजल खड़ी बोली में कविता करते थे। उन्होंने अधिक कविताएँ नहीं लिखीं

किन्तु स्वामी रामतीर्थ के सन्यासी होने पर उन्होंने जो कविता लिखा थी, वह इतनी लोकप्रिय हुई कि बहुत सी पाठ्यपुस्तकों में सम्मिलित की गयी। जैसा कि आप जानते हैं, स्वामी रामतीर्थ सन्यासी होने के पहले लाहौर के फोरमैन क्रिश्चियन कालेज में गणित के प्राध्यापक थे और अन्तःप्रेरणा से सहसा सन्यासी हो गये थे। इस पर उन्होंने जो कविता लिखी, उसके आरंभिक तीन छन्द इस प्रकार हैं:

गुण निधान, मतिमान, सुखी सब भाँति एक लवपुरवासी
युवा अवस्था बीच विप्रकुल केतु हुआ है सन्यासी।
विविध रीति से उस विरक्त को सुहृदवृन्द समझाय थके
गंगाजी के प्रवाह ज्यों पर उसे न वे सब रोक सके।

वृद्ध पिता माता की आशा, बिन व्याही कन्या का भार,
शिक्षाहीन सुतों की ममता, पतिव्रता नारी का प्यार।
सन्मित्रों की प्रीति और कालिजवालों का निर्मल प्रेम,
त्याग, एक अनुराग किया उसने विराग में तज सब नेम।

'प्राणनाथ! बालक सुत दुहिता' यों कहती प्यारी छोड़ी
'हाय! वत्स! वृद्धा के धन', यों रोती महतारी छोड़ी
चिर सहचरी 'रियाज़ी' छोड़ी, रम्यतटी रावी छोड़ी,
शिखा सूत्र के संग हाय! उन बोली पंजाबी छोड़ी।

स्वामी रामतीर्थ का सन्यासी होना (उनका पहला नाम प्रोफेसर तीरथराम था) उस समय की एक महत्वपूर्ण घटना थी, और बाद में उन्होंने अपनी साधना और संसारव्यापी भ्रमण और उपदेशों से देशवासियों के हृदय को जितना मथित और प्रभावित किया, उसकी कल्पना भी हम आज नहीं कर सकते। पूर्व जन्म के किसी सुकृत के कारण मुझे बचपन में उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और आज भी उनके तेजपुंज और आकर्षक व्यक्तित्व की छवि मेरे मानस पटल पर गहरी अंकित है।

आपने बहुधा लोगों को यह बात कहते सुनी होगी कि अमुख व्यक्ति में जादू है। किन्तु स्वामी राम में मैंने वह जादू प्रत्यक्ष देखा।

एक बार मथुरा में वे किसी सार्वजनिक स्थान में भाषण दे रहे थे। श्रोताओं की अपार भीड़ थी और सब मंत्रमुग्ध की तरह उनका उपदेश सुन रहे थे। रात्रि हो गयी थी और उस दिन चाँदनी छिटक रही थी। सहसा भाषण के बीच में वे बोले, अब राम जमुनाजी की रेती में जायगा और वहाँ बोलेगा। इतना कहकर, भाषण को अधूरा छोड़कर वे जमुनाजी की ओर चल दिये। सारी जनता उनके पीछे हो गयी और फिर शुभ्र चाँदनी में चमकती जमुनाजी की श्वेत रेती में उनका व्याख्यान घंटे डेढ़ घंटे हुआ। वे अपने भाषण हिन्दी में देते थे, यद्यपि पंजाबी होने के कारण उनकी शिक्षा उर्दू में हुई थी और उनकी हिन्दी में उर्दू शब्दों का पुट भी होता था। उन दिनों उनके सन्यास ग्रहण से देश के मानस पर एक विचित्र प्रभाव पड़ा था। माधवप्रसाद मिश्र और राधाकृष्ण मिश्र के काव्य की यह विशेषता थी कि वे अन्य खड़ी बोली के कवियों की तरह पौराणिक, ऋतुवर्णन, आदि विषयों पर कविता नहीं लिखते थे। वे अधिकतर सामयिक विषयों पर ही लिखते थे। रामतीर्थजी का सन्यासग्रहण उस समय की एक महत्वपूर्ण घटना थी।

मिश्रजी गंभीर विषयों पर लिखते तो उनकी भाषा संस्कृत-निष्ठ और गंभीर होती, किन्तु सामान्यत: वे सरल किन्तु परिनिष्ठित हिन्दी लिखते थे। उनके 'दर्शन शास्त्र', विशुद्ध चरितावली और कहानियों तथा पत्रों की भाषा में उनकी विविध शैलियों और खड़ी बोली के अधिकार का पता लगता है। उनके अनेक निबन्ध उस युग के सर्वोत्तम निबंधों में गिने जाते हैं। हम यहाँ उनकी भाषा के दो नमूने दे रहे हैं। एक अंश उनके 'वेवर के भ्रम' नामक वाद विवाद संबंधी लेख से है और दूसरा उनके श्री जगन्नाथपुरी की यात्रा के एक पत्र से है।

वेबर जर्मन संस्कृतज्ञ थे। वे महाभारत की घटना को ऐति-हासिक नहीं मानते थे। वे उसे ईसा से २, ३ शती पूर्व की रचना मानते थे। यद्यपि वे पाणिनि को महाभारत से पूर्ववर्ती मानते थे तथापि उनका समय भी ईसा से कुछ शती पहिले ही मानते थे। द्विवेदीजी वेबर से प्रभावित थे। मिश्रजी ने इस पर यह लंबा

निबन्ध लिखा था जो उस समय के साहित्यिक वाद-विवादों में बड़ा महत्वपूर्ण और मनोरंजक है। एक अंग्रेज़ी न जानने वाला पुराने ढंग का पंडित उस युग में कितना जागरूक और बहुश्रुत होता था, इसका उससे पता लगता है। उसका कुछ अंश यह है :

"विलायती विद्या का एक लक्षण यह है कि वे लोग स्वदेश में जो देखते हैं (वे) समझते हैं कि विदेश में भी ठीक वैसा ही है। वे लोग Moor से भिन्न और किसी जाति को अगौर वर्ण नहीं मानते थे। इसलिए इस देश में आकर वे हिन्दुओं को Moor कहने लगे। उसी प्रकार अपने देश में Epic काव्य से भिन्न छन्दोबद्ध या पद्य में रचित कोई आख्यान ग्रन्थ (इतिहास) देखा नहीं, सुतरां योरोपीय पंडितों ने महाभारत और रामायण को देखते ही दोनों को केवल Epic काव्य निश्चिय कर लिया। बस, जब काव्य ही ठहरा, तो फिर ऐतिहासिकता का इसमें क्या काम? एक बात में सब नष्ट हो गया। इसी प्रकार कई बुद्धिसागर राज तरंगिणी की भी सफाई कर रहे हैं।

"विलायती साहबों ने क्यों महाभारत को काव्य ग्रन्थ कहा है यह वे लोग (अर्थात् उनके देशी शिष्य) अच्छी तरह नहीं जानते और न जानने की चेष्टा ही करते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह पद्यों में है, यह हो नहीं सकता, क्योंकि संस्कृत ग्रन्थ पद्य ही में लिखे जाते हैं, विज्ञान, दर्शन, अभिधान, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र, सभी पद्य में प्रणीत हुए हैं। तब यह हो सकता है कि महाभारतादि में काव्यांश बड़ा सुन्दर है, योरोपीय लोग जैसा सौंदर्य Epic काव्य का लक्षण समझते हैं, वैसा सौंदर्य इनमें अधिकता से देख इनको Epic कहने लगे। किन्तु विचारपूर्वक देखने से इस प्रकार का सौंदर्य योरोप के अनेक विख्यात इतिहासों में भी पाया जाता है। अंग्रेज़ी में मेकाले, कार्लाइल, फ्रांसीसी के लामार्टीन और मिशाला के ग्रन्थ में और ग्रीक लोगों के 'थूकीदिदिस' के ग्रंथ में और और भी इतिहास ग्रन्थों में। मानव चरित्र ही काव्य का श्रेष्ठ उपादान है, इतिहासवेत्ता भी मनुष्य चरित्र का वर्णन करते हैं। यदि अच्छी तरह वे अपना कार्य पूरा कर सकेंगे तो अवश्य ही उनके इतिहास

में काव्य का सौंदर्य आ जायगा। इस सौंदर्य के कारण ये सब ग्रन्थ अनैतिहासिक समझे जाकर परित्यक्त नहीं हुए तो भला हमारे महाभारतादि किस प्रकार इतिहास श्रेणी से परित्यक्त हो सकते हैं।

"वंग देश में प्रतिभाशाली प्रसिद्ध सुलेखक बाबू बंकिमचन्द्रजी ने बहुत अच्छा कहा है कि मूर्ख के मत की आलोचना या आन्दोलन करने का प्रयोजन नहीं। किन्तु यदि कोई पंडित होकर मूर्खों जैसी बातें करे तो कहिए तब क्या किया जाय ? विख्यात वेबर साहब पंडित हैं सही, किन्तु हमारी समझ में उन्होंने जिस क्षण में संस्कृत सीखना आरंभ किया था, भारतवर्ष के लिए वह शुभ काल न था। भारतवर्ष का गौरव कल की जर्मनी के बनवासी, बर्बर लोगों के लिए असह्य है। अतएव प्राचीन भारतवर्ष की सभ्यता अति आधुनिक है, यह सिद्ध करने के लिए वे सर्वदा यत्नशील हैं। उनकी विवेचना में ईसामसीह के जन्म से पहिले भी महाभारत था, ऐसे विचार करने का मुख्य प्रमाण कुछ नहीं है। पाणिनी के सूत्रों में महाभारत शब्द है, युधिष्ठिरादि का नाम भी है, किन्तु इस पर उनका विश्वास नहीं होता क्योंकि पाणिनी भी उनकी सम्मति में कल का लड़का है। बड़े काय-क्लेश से उन्होंने स्वीकार किया है कि ख्रिष्टीय प्रथम शताब्दी में महाभारत था, किन्तु और एक योरोपीय मनुष्य जिसका नाम मेगास्थनीज़ था और जो ईसा से पहिले तीसरी या चौथी शताब्दी में भारतवर्ष और चन्द्रगुप्त की राजधानी में रहा था उसने अपने ग्रन्थ में महाभारत की बात नहीं लिखी। बस वेबर साहब ने कह दिया कि उसके समय में महाभारत नहीं था। इस जगह जानबूझ कर जर्मन पंडित ने बुद्धिपुरस्सर दुराग्रह से सत्य का अपलाप किया है। यह बात कुछ गुप्त नहीं है क्योंकि वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि मेगास्थनीज़ का भारत विषयक ग्रन्थ अब विद्यमान नहीं है। केवल अन्यान्य ने अपनी-अपनी पुस्तकों में जो उद्धृत किया था उसको डाक्टर श्वेनवेल नामक एक आधुनिक पंडित ने संकलन कर एक स्वतंत्र ग्रन्थ प्रस्तुत किया, वही इस समय मेगास्थनीज़ कृत भारत वृतान्त के नाम से प्रचलित है। उसके ग्रन्थ का अधिक अंश अभी तक विलुप्त है। सुतरां उसने महाभारत की

चर्चा अपने ग्रन्थ में की है कि नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। वेबर साहब का जो अभिप्राय हो, किन्तु घटनाक्रम से हमारा विचार यही है कि इन बातों को जानबूझ कर केवल भारतवर्ष के प्रति विद्वेष बुद्धिवश वेबर साहब ने इस प्रकार की बातें लिखी हैं। इनके बनाये भारत साहित्य के इतिवृत्त विषयक ग्रन्थ में आदि से अन्त तक भारतवर्ष के गौरव को न्यून करने की चेष्टा से भिन्न और कोई उद्देश्य देखा नहीं जाता। इससे अधिक कहना व्यर्थ है कि मेगास्थनीज़ ने महाभारत का नाम नहीं लिया, तो इससे यह बात सिद्ध नहीं होती कि उसके समय में महाभारत था ही नहीं। अनेक हिन्दू जर्मनी की सैर कर आये हैं और उन्होंने ग्रन्थ लिखे हैं। उनके किसी ग्रन्थ में हमने साहब का नाम नहीं देखा। तो क्या यह सिद्ध करना चाहिए कि वेबर साहब कभी थे ही नहीं ?"

इसके बाद उन्होंने पाणिनी से उनके पूर्व महाभारत के वर्तमान रहने के प्रमाण दिये हैं——

"पाणिनीजी का सूत्र है :

महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टी व्यास जावाल भार
भारत हैलिहैलि रौरव प्रबृद्धेषु ।६।२।३८।

अर्थात् व्रीहि इत्यादि शब्दों के पहिले महत् शब्द का प्रयोग होता है। इन शब्दों में एक शब्द 'महाभारत' भी है। सुप्रसिद्ध इतिहास के ग्रन्थ के बिना 'महाभारत' का नाम कभी किसी वस्तु का हुआ हो, ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। तथापि वेबर साहब फरमाते हैं कि यहाँ महाभारत शब्द का अर्थ भरत वंश है। किन्तु यह केवल साहब बहादुर की बहादुरी है। क्योंकि ऐसा प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता।

फिर देखिए पाणिनी सूत्र है :

गवि युधिभ्यां स्थिरः ८।३।९५

गवि और युधि शब्द के परे स्थिर शब्द के 'स्थ' के स्थान में 'ष' हो गये। यथा 'गविष्ठरः युधिष्ठिरः'

और देखिए :

यह्वृच इमः प्राच्य भारतेषु २।४।६६

भरत गोत्र का उदाहरण है : 'युधिष्ठिराः'

फिर लीजिए—

'स्त्रियानवन्ति कुन्ति कुरुभ्यः ४।१।१७।६०

इसमें कुंती शब्द भी पाया गया।

और लीजिए :

"वासुदेवार्ज्जुनाभ्यां युन्। ४।४।६८।

अर्थात् वासुदेव और अर्जुन के परे यथार्थ में युन होय।

कुछ अन्य पाणिनी के सूत्र देकर वे लिखते हैं :

जबकि महाभारत ग्रन्थ का नाम और उस ग्रन्थ के नायक लोगों का नाम पाणिनी के सूत्रों में पाया गया तो यही सिद्ध हुआ कि पाणिनी से प्रथम वा पाणिनी के समय में भी महाभारत 'पांडवों का इतिहास था।"

अब उनके एक पत्र की शैली का नमूना देखिए :

"जगन्नाथ जी बलभद्र और सुभद्रा की मूर्तियाँ काठ की हैं जैसी हमने प्रायः बाजारू लोगों के पास देखी होंगी। वही गोल-गोल नेत्र और वही लुंज हस्त हैं। कहाँ पुराण वर्णित चतुर्भुज मूर्तियों का विशद वर्णन और कहाँ यह विकृत दर्शन ? क्या इसी प्रतिमा के दर्शन के लिए राजर्षि इन्द्रद्युम्न ने तप किया था ? मंदिर के अधिकारी इस विषय में अंट-संट बातें करने लगते हैं। उनके पास संतोषजनक उत्तर कुछ नहीं, वे स्वयं संशयग्रस्त हैं। हमारे चतुर चूड़ामणि पंडित दीन दयाल जी कभी-कभी मज़ाक करते हैं। उन्होंने एक बार वक्तृता में इस विषय का समाधान करते हुए कहा था कि 'कलयुग का घोर अंधकार देख कर जगन्नाथजी ने उल्लूक जैसे नेत्र इसलिए बना लिय कि ऐसे समय में वैसी ही आँखों से काम निकलता है, कमल जैसे नेत्रों से नहीं।" और जगन्नाथजी के हाथ कटने का एक वैसे ही पंडित प्रकांड ने एक सभा में यह तत्व समझाया था कि 'कृष्णावतार में

गोपियों के वस्त्र चुरा कर जो पाप किया था उसीका यह प्रायश्चित्त है।

"यद्यपि भावतंत्र के सामने इस तरह की शंकाओं को कुछ अवसर नहीं मिल सकता। जिसके विषय में वेद पुकार रहा है 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वां न मनो न विद्मो न विज्ञानीमः' उस अज अविनाशी की कोई मूर्ति बना ही दे तो किसकी सामर्थ्य है जो यह कह दे कि वह उसकी मूर्ति नहीं है, तथापि भावतंत्र से वस्तुतंत्र और विधितंत्र की बात स्वतंत्र है। वहाँ तादृश वस्तु और विधि की अपेक्षा रहती है। इसीलिए कहना पड़ता है कि धर्मप्रचारकों का यह कर्तव्य नहीं है कि जो बात आगे आवे, उसीका वकीलों की तरह समर्थन करने के लिए खड़े ही हो जाएँ। कुछ सत्यासत्य का विचार भी करना चाहिए।

"यद्यपि जगन्नाथजी की मूर्ति में सौंदर्य कुछ नहीं है, तथापि यात्रियों को उसकी रत्ती भर परवाह नहीं है। मैंने आज इस बात की परीक्षा की कि क्या दूसरे लोगों के चित्त में भी कोई इस तरह की शंका होती है कि सकल सौंदर्यनिधान विष्णुदेव की ऐसी विकृत प्रतिमा क्यों है? किन्तु मैंने सिवाय उन कतिपय पुरुषों के जो मेरी तरह अखबारी दुनिया के थे, और सबको इस विषय में स्थिरचित्त पाया। मैंने माँजी से पूछा कि "क्यों दर्शन कैसे हुए?" बोलीं "खूब हुए, निहाल हो गयी। ये दर्शन बड़े भाग्य से मिलते हैं।" इस समय माँजी के हर्षोत्फुल्ल मुख को देखकर मैंने समझा कि चलो, यात्रा सफल हुई। कहते हैं कि ब्राह्मो समाज के संस्थापक मातृभक्त राजा राममोहन राय माता के साथ तीर्थयात्रा करने के लिए गये थे और उन्होंने बड़ी योग्यता के साथ अपना कर्तव्य पूरा किया था। एक ब्रह्मसमाजी ने इस पर व्यंग से कहा कि 'ब्रह्मोपासक होकर आप मूर्ख पौत्तालिकों की तरह जगह-जगह बुढ़िया के पीछे क्यों घूमते रहे हैं? क्या वहाँ आपको भी कुछ आनन्द आया?" कहा: 'देवता और तीर्थों के दर्शन करने के समय मेरी श्रद्धामयी भोली जननी के सरल वचनों में जो मुझे आनन्द आता था, वैसा उपनिषदों

की श्रुति में भी नहीं आया। माता की उस समय की प्रसन्नता में मैं उस ज्योति की झलक देखता था जिसके लिए वेद नेति नेति कह रहा है। वास्तव में बात ऐसी ही है।"

ये दो नमूने मिश्रजी की भाषा और शैली के पर्याप्त होंगे। उनकी विशुद्धानन्द चरितावली जिस खोजपूर्ण विवरण के साथ लिखी गयी है और उनके 'दर्शन शास्त्र' में उनके प्रकांड और गंभीर ज्ञान का जो परिचय मिलता है, उसे देख कर आश्चर्य होता है। इस शती के प्रथम दशक में उन्होंने खड़ी बोली गद्य को पूरी ऊँचाई पर पहुँचा दिया था।

इन सब लेखकों में एक़ बात समान थी। ये लोग न तो अंग्रेज़ी ही जानते थे और न उससे प्रभावित थे। हिन्दी में नया मोड़ तब आया जब अंग्रेज़ी और उर्दू के अध्ययन करने वाले हिन्दी में लिखने लगे। यह क्रम श्रीधर पाठक से आरंभ हुआ, यद्यपि इसके पहिले अपवाद रूप में तोताराम जी (जो अलीगढ़ में वकालत करते थे) पं० लक्ष्मीशंकर, मथुराप्रसाद मिश्र आदि लोग हिन्दी में लिखने लगे थे किन्तु इनकी संख्या अपेक्षाकृत बहुत कम थी। अंग्रेज़ी और उर्दू से प्रभावित लोगों के बड़ी संख्या में हिन्दी लेखन में आ जाने से भाषा के रूप में बहुत परिवर्तन हुआ और विषयों में भी विविधता आयी। इनमें लाला सीताराम, पं० श्यामबिहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास आदि प्रमुख थे। चंद्रधर गुलेरी जितने अंग्रेज़ी से प्रभावित थे उतने ही संस्कृत से भी। बालमुकुन्द गुप्त उर्दू से हिन्दी में आये थे। कुछ अंग्रेज़ीदां लेखकों में संस्कृत का भी कम या अधिक ज्ञान था, किन्तु उनपर प्रभाव अंग्रेज़ी ही का अधिक था। उनपर उर्दू का भी परोक्ष प्रभाव था और वे बहुत से आमफ़हम या ऐसे उर्दू शब्दों का प्रयोग, जिन्हें वे शिष्ट या आवश्यक समझते थे, मुक्तरूप से करने लगे थे। यह मोड़ पिछली शती के अन्तिम दशक में आरंभ हो गया था, किन्तु इसके मतलब यह नहीं हैं कि पुरानी शैली एकदम समाप्त हो गयी थी। दूसरी भारतीय भाषाओं के कुछ लोग भी हिन्दी खड़ी बोली गद्य लिखने लगे थे, जिनमें प्रमुख थे लज्जाराम मेहता (जो

गुजरातीभाषी थे), अमृतलाल चक्रवर्ती, जो ग्रेजुएट बंगाली थे और माधवराव सप्रे। इनकी भाषा में उर्दू का वह पुट नहीं है, जो उत्तर प्रदेश के अंग्रेजीदां लेखकों में मिलता है।

इन सबकी भाषा और शैली के नमूने देने का यहाँ अवकाश नहीं है और इनमें से अधिकांश की भाषा और शैली से आप लोग परिचित हैं ही। अहिन्दीभाषी प्रमुख लेखकों की भाषा से लोग सामान्यतः परिचित नहीं हैं। इसलिए मैं केवल अमृतलाल चक्रवर्ती, और सप्रे की भाषा और शैली के नमूने देकर संतोष कर लूँगा। सप्रेजी की भाषा के नमूने मैं दे चुका हूँ।

अमृतलाल चक्रवर्ती बंगाली थे, बंगाल में पैदा हुए थे। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० किया और कुछ दिनों नौकरी भी की, किन्तु नौकरी छोड़ हिन्दी की सेवा में लग गये। मुख्य रूप से उन्होंने अपना जीवन हिन्दी पत्रकारिता में बिताया। उस समय के प्रसिद्ध पत्रों 'प्रयाग समाचार', 'बंगबासी', 'भारतमित्र' और 'श्री बेंकटेश्वर समाचार' के संपादन में उनका अधिकांश जीवन बीता। जब कलकत्ते से हिन्दी दैनिक 'कलकत्ता समाचार' निकला तब उसके सम्पादकीय विभाग में भी उन्होंने कुछ दिनों काम किया। हिन्दी जगत में उस समय उनका इतना सम्मान था कि वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के एक बार सभापति भी चुने गये थे। किन्तु जब वे वृद्ध हो गये और कार्य करने में असमर्थ हो गये तो उनका जीवन बड़े कष्ट में बीता। सम्पादकाचार्य रुद्रदत्त की तरह वे अक्षरशः भूखों तो नहीं मरे, किन्तु उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी और आजीवन हिन्दी की सेवा करने के बाद भी उनको दरिद्रता के सभी कष्ट भोगने पड़े। हिन्दी संसार ने उनकी कोई सहायता नहीं की। उन्होंने 'चंदा' नाम का एक उपन्यास भी लिखा था जो अधूरा रह गया, किन्तु वह उनके हिन्दी भाषा के अधिकार, उनकी प्रांजल खड़ी बोली और चित्ताकर्षक शैली का अच्छा उदाहरण है।

मैं यहाँ उसके आरंभ का कुछ अंश आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ :

"सूर्य भगवान डूबने ही पर थे। पश्चिम आकाश उनकी बिदाई की ललाई से रंग गया था। अरावली पर्वत की चोटियाँ मंदी किरणों की सुनहरी छटा मल कर, मानो रत्नगर्भा वसुन्धरा की सुवर्ण संपद दिखा रही थीं। आकाश में दावानल था, विश्व संसार सुवर्णमय था। दृश्य बड़ा ही मधुर, बड़ा ही गंभीर, बड़ा ही मनोहर था। किन्तु नित्य देखने वालों की अभ्यस्त आँखें इन्द्रपुरी की बलिहारी बहार भी नहीं देख सकती हैं। यहाँ देखने के लिए चार विदेशी आँखों के रहने पर भी उनके अभागे अधिकारी और ही तान में लगे हुए थे।

"ये चार आँखें दो थके माँदे घुड़सवारों की थीं। घोड़े भी स्थूल बोझों से लदकर बड़े ही विवश हो रहे थे। ये लोग बड़ी दूर से आ रहे थे। पहाड़ की उतराई चढ़ाइयों का लगातार सिलसिला पार करने का परिश्रम भुगतने वाले ही जान सकते हैं। थके हुए सवारों को थके हुए अबोल जानवरों की थकावट पर ध्यान देने का अवकाश न था। रोड़ों से भरी हुई अपरिचित पहाड़ी पगडंडी से जाना, कितनी दूर पर आश्रय मिलेगा, तिसका पता न रहना और तिस पर आती हुई संध्या की राह रोकने वाली अंधेरी का भय, सब मिल कर शरीर से थके सवारों के दुर्बल मनों को विलक्षण चंचल कर रहे थे। पग-पग पर थके हुए घोड़ों को शीघ्र अग्रसर होने के लिए भांति भांति से उकसाने की निष्फल चेष्टा सवारों की चंचलता को एक बार ही अपार कर रही थी।

"मानो उनसे शत्रुता साधने ही के लिए संध्या उस दिन शीघ्रता से सामने की सारी दृश्य वस्तुओं को निगल रही थी। इससे कहीं बढ़ कर शत्रुता उनके दीर्घकाल के साथी, विपद के सहाय, वर्तमान के अवलम्बन जानवरों में से एक ने प्रगट की। घोड़ा सवार सहित गिर पड़ा। सवार ने झटपट उठ कर उसे उठाने की चेष्टा करने से पहले देखा कि उसकी जीभ निकली हुई है, दोनों गलफड़ों से अपरिमित झाग निकल रहा है, लंबी लंबी साँसों से पास की गर्द उड़ रही है। घोड़े को फिर उठाने का प्रयोजन नहीं हुआ। दोनों राहियों

की घबड़ाहट चौगुनी कर एक बार बड़े जोर से हिनहिना कर घोड़े ने अटल गुलामी का दुर्भाग्य जीवन समाप्त किया। उसके सवार ने साथी की ओर ताक कर कहा: 'अब!'...

"नैराश्य के प्रथम धक्के को पार कर अपनी शेष सारी वस्तु शेष घोड़ों पर रख ली और आप दोनों पैदल चलने लगे। क्रमशः रात्रि अपना सर्वग्रासी सामान लेकर उपस्थित हुई। अंधकार ने पथिकों की दृष्टि हर ली। बिना देखे, बिना जाने, दिशा तक का अनुमान बिना किये दोनों पथिक चलने लगे। पथ खो गया। जहाँ का पथ ही पैर फोड़ने वाला है, वहाँका कुपथ कैसा भयानक है, यह अनुभव करना कठिन नहीं है। रोड़ों से पथिकों के पैर फूटने लगे, जंगली वृक्षों के कांटों से शरीर छिलने लगे। किन्तु तौ भी दिन भरके घोर परिश्रम से थके हुए पथिक इन शारीरिक यंत्रणाओं पर ध्यान नहीं दे सके। कहीं कोई खूंखार जानवर जीवनान्त न करे इस भय से सब कष्ट परिश्रमों को तुच्छ कर वे अग्रसर हो रहे थे। अंधकार में पथ भूल कर वे खूंखार जानवरों ही की मांद में तो नहीं घुस रहे थे? यह युक्तिपूर्ण चिन्ता उनके श्रम से शिथिल मस्तिष्क में नहीं आ रही थी। जब वह चिन्ता आई, तब उनके अग्रसर होने का उपाय भी न रहा। सामने ही एक विशाल पर्वत शिखर बेदाग दीवार की भांति सुदूर आकाश तक सिर उठा कर उनकी गति रोक रहा था। इस पर बढ़ने का सुराग़ पथिकों को न दीख पड़ा।

"आगे बढ़ने का उपाय नहीं है। आगे बढ़ने की शक्ति भी नहीं है। आगे बढ़ने से प्राणरक्षा जैसी अनिश्चित है, यहाँ रहने से वैसी ही अनिश्चित है। सो आगे बढ़ते हुए परिश्रम से प्राणान्त करने की मूर्खता क्यों की जाय? निरुपाय पथिकों की बुद्धि ने जब यही युक्ति दी, तब वे घोड़े से चीज़ वस्तु उतार कर वहीं बैठ गये। अंधकार से चाहे एक दूसरे का देखना न बन पड़े, बैठने का स्थान चाहे रूखा खिड़बिड़ा ही क्यों न हो, किन्तु यदि हर घड़ी शेर, भालुओं के भय से प्राण अकड़े हुए न रहते, तो पथिकों के लिए

गुरु पथश्रम के पश्चात यह बैठना भी कितना सुखदायी होता? किन्तु गुप्त बधिक की आशंकित तलवार राजभवन की मखमली गद्दी को भी कंटकशैया बना देती है। बेचारे पथिकों को इन कठोर शिलासनों पर क्या चैन मिले? दोनों के ही सिर पर चित्त तपानेवाली चिन्ता की गर्म बोरसियाँ धहधहा रही थीं। दोनों में से थोड़ी उम्र वाले ने कहा: "अब प्राण नहीं बचेंगे।"

"अधिक उम्र वाले ने कहा: 'लक्षण तो ऐसा ही जान पड़ता है। प्राण जायें तो जावें, चिन्ता केवल इतनी ही है कि प्राण जाने से धर्म की रक्षा न होगी।'

"पहला: 'यदि प्राण ही गये तो धर्म की रक्षा होने से क्या होगा?'

"दूसरा: 'अजी क्या कहते हो, प्राण जाने से केवल अपने ही प्राण जायेंगे। कुछ दिन परिवार के लोग रो-धो कर भूल जायेंगे, किन्तु धर्म रक्षा न होने से हमारी जाति का सर्वनाश होगा। हा! गयाधाम! यवनों के कठोर कुठारों से तेरी रक्षा क्यों कर होगी!'

"बुड्ढे की आवाज भारी हुई। कदाचित् आँसुओं की दो चार बूँदें भी टपक पड़ीं, किन्तु अंधकार में कुछ देखा नहीं गया। दूसरे ने भी बात की गंभीरता का अनुभव कर कुछ कहने का साहस नहीं किया। यों ही अंधकार में कुछ देर चुपचाप बैठे रहने के पश्चात पथिकों ने एक विलक्षण दृश्य निरीक्षण किया। मालूम हुआ कि सामने की पहाड़ी पर कई स्थानों में मशाल की भांति रोशनी फिर रही है। देखते ही बुड्ढे ने चिल्ला कर कहा: 'कौन हो भैया! हम राह भूले पथिक हैं, अड़चन में पड़ गये हैं, हमें बचाओ।'

"पथिकों का हर्ष अपार कर किसी ने आवाज़ दी। आवाज़ आई, 'घबराओ मत, घबराओ मत, हम तुम्हें ही ढूंढ रहे हैं।'

'हैं, कोई हमें ही ढूंढ़ रहा है? हम अपरिचित देश में अपरिचित मनुष्य हैं। हमारे इधर आने तक का पता किसीको नहीं है। हमारी खोज में कौन आ सकता है?' यों ही असीम आश्चर्यपूरित किन्तु

हर्ष भरी चिन्ता की उत्सुकता से दोनों पथिक पहाड़ से उतरती हुई रोशनी को देखने लगे। शीघ्र ही मालूम हुआ कि तीन चार आदमी एक तेज़ मशाल लेकर आ रहे हैं। दोनों पथिक आनन्द से मत्त बन कर बार बार भगवान का स्मरण कर उठ खड़े हुए। रक्षकों के आते आते घोड़े पर सब सामान रख कर वे यात्रा के लिए तैयार हुए।

"मालूम हुआ कि किसी परिचित मनुष्य को ढूंढने में रक्षकों ने भ्रमवश पथिकों का उद्धार नहीं किया है। वे ठीक उन्हींके लिए भेजे गये थे। चित्तौर के राणा के ज्येष्ठ राजकुमार चंदा शिकार खेलने आये थे। लौटते हुए राह पर उन्होंने एक मरा हुआ घोड़ा देखा। अनुमान किया कि किसी पथिक का घोड़ा थक कर वहाँ मर गया होगा। यहाँ श्रीनाथद्वारे के सिवा और कहीं पथिकों के टिकने का स्थान नहीं है। राजकुमार भी आज वहाँ टिक रहे हैं। उन्होंने जब वहाँ जाकर किसी पथिक को टिका न देखा तो सोचा कि निश्चय ही मरे घोड़े का अधिकारी पथिक राह भूल कर कहीं अड़ गया होगा। इसीसे राजकुमार ने चार चार आदमियों के दल बना कर एक-एक मशाल के साथ ढूंढने के लिए भेज दिये। जब ढूँढते-ढूँढते पथिकों की आवाज मिली तो और सब चले गये। केवल चार आदमी ले जाने को आये। राजकुमार चंदा की इस देव प्रकृति का परिचय पाकर अपने उद्धार के लिए धन्यवाद से गद् गद् होकर, आन्तरिक आशीर्वाद देते हुए दोनों पथिक श्रीनाथद्वारे में जा पहुँचे।"

इस मनोरंजक और कठिन यात्रा के सजीव वर्णन से चक्रवर्ती जी की अभिव्यक्ति की क्षमता, उनकी सहज, स्वाभाविक किन्तु सरल शैली तथा हिन्दी भाषा पर उनके अधिकार का अच्छा परिचय मिलता है। हिन्दी को उसका वर्तमान रूप देने में जिन अहिन्दी-भाषियों ने योगदान किया, उनमें चक्रवर्तीजी का स्थान बहुत ऊँचा है।

उस समय के दूसरे महत्वपूर्ण अहिन्दीभाषी लेखक पं० माधव

राव सप्रे महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे वे छत्तीसगढ़ के रायपुर नगर में रहते थे। वे भी उच्च अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त थे। उनमें हिन्दी प्रेम, देशप्रेम और अध्यात्म का अनोखा समन्वय था। जिस वर्ष सरस्वती का प्रकाशन आरंभ हुआ, उसी वर्ष उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र' मासिक निकाला था जो तीन वर्ष चला। किन्तु हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में उसका बड़ा ऊँचा स्थान है। सप्रेजी लोकमान्य के अनुयायी थे। उन्होंने नागपुर से 'हिन्दी केशरी' निकाला था जो सरकार ने पूरे एक वर्ष भी न चलने दिया। सप्रेजी को कारागार हो गया, किन्तु वहाँ मित्रों के आग्रह से उन्होंने क्षमा माँग कर छुटकारा पा लिया, किन्तु इस कमजोरी का उन्हें इतना पश्चात्ताप हुआ कि वर्षों वे साधुवेश में नंगे पैर रह कर मधुकरी-वृत्ति से जीवन-यापन करते रहे। बाद में उन्होंने हिन्दी ग्रन्थ निबन्धावली निकाली जो बड़ी उच्च कोटि की पत्रिका थी, जिसमें सभी विषयों के गंभीर लेख रहते थे। उन्होंने लोकमान्य के गीता रहस्य का भी अनुवाद किया था। हिन्दी संसार ने सप्रेजी को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति पद से सम्मानित किया था। उनकी शैली गंभीर और संस्कृतनिष्ठ होती थी और वह बहुत आधुनिक थी। वास्तव में उनकी भाषा उस समय की परिनिष्ठित हिन्दी का अच्छा उदाहरण है।

अन्त में मैं आचार्य द्विवेदीजी के संबंध में कुछ विचार व्यक्त कर इस विषय को समाप्त करूंगा। द्विवेदीजी ने उस समय की खड़ी बोली गद्य को जितना प्रभावित किया, उतना शायद और किसीने नहीं। इसके कई कारण थे। पहिला कारण तो यह था कि उन दिनों की सर्वश्रेष्ठ और बहुचर्चित तथा प्रभावशाली पत्रिका 'सरस्वती' उनके हाथ में आ गयी थी। यह समझना भूल होगी कि सरस्वती की रूपरेखा या उसकी विषयवस्तु को उन्होंने निर्धारित किया। वह तो पहिले पाँच व्यक्तियों के सम्पादक मंडल और फिर बाबू श्याम सुन्दरदास के सम्पादन काल में पहिले ही निर्धारित हो गयी थी। इन पहिले दो वर्षों की सरस्वती में विषयों की जो विविधता है, लेखों का जो चयन है, वह मोटे तौर से द्विवेदीजी के समय में भी रहा। बाद में उन्होंने छोटे-छोटे सम्पादकीय लिखना अवश्य आरंभ किया था,

किन्तु हिन्दी सम्बन्धी कुछ टिप्पणियों को छोड़ कर तथा गवर्नमेंट की जनसंख्या तथा शैक्षणिक रिपोर्टों के अतिरिक्त तत्कालीन राजनीतिक आदि समस्याओं पर वे कुछ नहीं लिखते थे। उन्होंने एक बड़ा काम यह किया कि कितने ही अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों (विशेषकर युवकों को) सरस्वती में लिखने को प्रेरित किया और बाद में उनमें से कितने ही अच्छे लेखक निकले। उन्हें अंग्रेज़ी जाननेवालों की विद्याबुद्धि पर भरोसा था। उन्हें केवल हिन्दी या संस्कृत के उन विद्वानों से विरक्ति थी, जो उन दिनों हिन्दी में लिखते थे। इसीलिए उनके समय में सरस्वती में उस समय के अंग्रेज़ी न जानने वाले लेखकों के लेख प्रायः नहीं छपते थे। उन्हें अंग्रेज़ी ज्ञान से शून्य लोगों के लिए एक तरह की अवज्ञा थी। पं० किशोरीलाल गोस्वामी के सबसे अधिक लेख सरस्वती के प्रथम वर्ष में छपे थे और कुछ दूसरे वर्ष में भी। वे उस समय हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकारों में गिने जाते थे। किन्तु द्विवेदीजी ने कभी उनसे लेख नहीं माँगा। यही नहीं, गोस्वामीजी ने मुझसे कहा था कि उनके पास सरस्वती की मानद (Complimentary) प्रति जाती थी। उन्होंने उसे भी बन्द कर दिया। द्विवेदीजी ने अपना लेखक मंडल स्वयं तैयार किया। आरंभ में ये नये लेखक ठीक तरह से हिन्दी नहीं लिख सकते थे। इसलिए द्विवेदीजी उनकी बातों और भावों को लेखकर उनके लेखों को फिर से लिख डालते थे और यह पुनर्लिखित लेख मूल से एकदम भिन्न होता था, भाषा में, शैली में। स्व० श्रीप्रकाशजी के एक लेख को उन्होंने इसी प्रकार एकदम बदल दिया था। इसपर वे इतने अप्रसन्न हुए कि उन्होंने फिर सरस्वती में लेख नहीं भेजा। इसके दो परिणाम हुए। एक तो यह कि सरस्वती के सभी लेखों की भाषा (और शैली भी) एक समान होने लगी और बहुत दिनों ऐसा होने से वही भाषा परिनिष्ठित मानी जाने लगी। दूसरी बात यह हुई कि उन्होंने पुराने लेखकों को सरस्वती से वंचित कर उनका प्रचार समाप्त कर दिया। तीसरी बात यह हुई कि उनके भक्तों और अनुयायियों का एक दल बन गया। वे प्रायः १८।२० वर्ष उस युग में सरस्वती के सम्पादक रहे, जब हिन्दी में वही एकमात्र उच्चकोटि की पत्रिका थी।

इसलिए उनकी ख्याति और प्रभाव बढ़ गया और वे हिन्दी के आचार्य माने जाने लगे। उनके पहिले हिन्दी में दलबंदी नहीं थी। किन्तु उन्होंने कई साहित्यिक विवाद आरंभ कर, और विरोधियों की तीव्र आलोचना कर, हिन्दी संसार को कई दलों में बाँट दिया। किशोरी लाल गोस्वामी, बालमुकुंद गुप्त, लाला सीताराम, गोविन्दनारायण मिश्र, माधवप्रसाद मिश्र आदि उनका नेतृत्व स्वीकार करने को तैयार न थे और उनका साहित्यिक विरोध भी करते रहते थे। इसलिए सरस्वती में या तो उनकी चर्चा होती ही न थी और यदि होती थी तो उनकी विरोधात्मक आलोचना के रूप में। उनमें से कितने ही अल्पायु हुए, जैसे माधवप्रसाद मिश्र, बालमुकुंद गुप्त या जो अधिक वय के थे वे थोड़े ही दिनों में दिवंगत हो गये। उनकी मृत्यु पर भी सरस्वती ने उनकी सेवाओं के विषय में या तो कुछ नहीं, या रस्मी तौर से संक्षेप में लिखा। बाद में उनके शिष्यों का हिन्दी साहित्य पर वर्चस्व हो गया, और जिन लोगों पर द्विवेदीजी की कृपा दृष्टि नहीं थी, वे और उनकी सेवाएँ भुला दी गयीं। द्विवेदी जी हिन्दी को आधुनिक बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अंग्रेज़ीदां लेखकों को प्रोत्साहन दिया जिससे वे आधुनिक दृष्टि से आधुनिक विषयों पर हिन्दी में लिखें। संस्कृतज्ञ हिन्दी लेखक उनकी भाषा या उनके भाषा के प्रयोगों की आलोचना करते थे, और द्विवेदीजी विरोधी आलोचना के प्रति बहुत सहिष्णु न थे। इतना ही नहीं, उन पर भारतीय संस्कृति और साहित्य के संबंध में विदेशी विद्वानों के मतों का बड़ा प्रभाव था। संस्कृतज्ञ विद्वान उनका विरोध करते थे। यह भी एक कारण था कि वे उनसे खिन्न थे। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने खड़ी बोली गद्य का एक मानक रूप बनाने में बड़ा परिश्रम किया और उसे प्रतिष्ठित कर दिया।

भाषा के संबंध में वे व्याकरण का ध्यान तो रखते ही थे, हिन्दी में विरामादि चिन्ह (Punctuation marks) के ऊपर भी विशेष ध्यान देते थे। किन्तु उनका सबसे बड़ा योगदान तत्सम शब्दों का प्रयोग था। वे शुद्ध तत्सम शब्दों के प्रयोग पर बल देते थे, चाहे वे संस्कृत के हों, अरबी के हों, फ़ारसी के हों या अंग्रेज़ी के हों।

उनकी भाषा गंभीर विषयों में अधिकतर संस्कृतनिष्ठ होती थी, किन्तु चलती टिप्पणियों की भाषा बहुत सरल और आमफ़हम होती थी। उन्होंने 'राम कहानी' की आलोचना में अपनी भाषा के रूप संबंधी मान्यता को स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने लिखा है :

> "हमारे इस लिखने का मतलब नहीं कि जिस भाषा में बहुत से संस्कृत के, अथवा अरबी फारसी के, शब्द हों वही साहित्य की भाषा है। नहीं, इन भाषाओं के अप्रसिद्ध और क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग हिन्दी में करना दोष है, पर जो शब्द बोलचाल में आते हैं, फिर वे जिस भाषा के हों, उन्हें हिन्दी से निकाल बाहर करने का प्रयत्न करना नादानी के सिवा और क्या कहा जा सकता है।"

यह उद्धरण उनकी परिनिष्ठित हिन्दी संबंधी मान्यता और मत है। किन्तु बीच-बीच में वे ऐसे वाक्य ले आते थे जैसे "यह किताब तो ऐसी ही वैसी मालूम होती है। क्यों आप इसे पढ़ने का कष्ट उठावें और हम भी क्यों बेफ़ायदे राय लिख कर अपना वक्त ज़ाया करें?" "उसे बनारस के गर्द नवाह की अर्धगंवारी बोली ज़रूर कह सकते हैं।" किन्तु वे संस्कृत शब्दों को ही नहीं, फ़ारसी अरबी शब्दों के भी शुद्ध तत्सम रूप लिखने के पक्षपाती थे। 'वक्त' के क़ में और बेफ़ायदे के फ़ में नुक्ता लगाते और उनका लगाना आवश्यक समझते। कालान्तर में द्विवेदीजी के मत के बावजूद धीरे धीरे फ़ारसी, अरबी शब्दों का उपयोग हिन्दी में कम होने लगा, और संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य हो गया जिससे एक प्रकार की 'किताबी हिन्दी' बन गयी जो द्विवेदीजी के आशय से भिन्न थी। एक बात यह भी हुई कि हिन्दी के तद्भव शब्दों का प्रयोग कम होने लगा और भाषा में कृत्रिमता आ गयी। द्विवेदीजी के समय ही में यह प्रवृत्ति इतनी बढ़ गयी थी कि विचारशील लोग आशंकित हो रहे थे। बाद में हम पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का इस संबंध में मत उद्धृत करेंगे। अब हम यहाँ द्विवेदीजी की भाषा के कुछ नमूने देते हैं। पहिला नमूना तो गंभीर विषय पर है :

"चित्रकारों और कवियों के कार्य में विलक्षण सा साधर्म्य होता है। कवि अपने शब्दचित्र द्वारा प्रकृति के प्रसार और मानवी हृदयों के विकार का प्रदर्शन करता है और चित्रकार उन्हीं बातों का प्रदर्शन अपने चित्रपट द्वारा करता है। दोनों में भेद केवल इतना ही होता है कि कवि की कृति दूसरों के लिए श्रोत्रगम्य होती है और चित्रकार की कृति चक्षुरिन्द्रियगम्य। एक से प्राप्त आनन्द का अनुभव कान के द्वारा होता है, और दूसरे का आँख के द्वारा। तल्लीनता और आनन्दोन्मेष, जो आत्मा का धर्म है, दोनों की कृतियों में एक सा होता है।

"कवि अपनी आत्मा को प्रसन्न करने के लिए अपना काम नहीं करते। तुलसीदास आदि भक्त कवियों को आप छोड़ दीजिए। चित्रकार भी अपनी कृति से अन्यों को ही अधिकतर आनन्दित करना चाहते हैं। ये लोकोत्तर पुन्य पुरुष स्वार्थी नहीं होते। ये परार्थ को स्वार्थ से अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। अतएव इनके ललित और कोमल कार्य कलाप से जितने ही अधिक लोगों का मनोरंजन हो, समझना चाहिए कि ये अपनी कृति के उद्देश्य में उतने ही अधिक सफलकाम हुए। इस दशा में स्पष्ट है कि इनके कार्यों से आनन्द का यथेष्ठ अनुभव वही कर सकते हैं, जिनका हृदय इन्हीं के सदृश, किम्बहुना इनसे भी अधिक सुसंस्कृत, कोमल और भावग्राही होता है। इन भावग्राही जनों के हृदय में सहृदयता का अंश खूब अधिक होता है। बात यह है कि कवि और चित्रकार तो स्वयं ही जानते हैं कि उन्होंने अपनी अमुक कृति में अमुक भाव या भावों का विकास किया है, पर श्रोता या दर्शक इस बात को नहीं जानता। उसे तो अपनी प्रखर भावग्राही शक्ति ही से उस भाव को ढूँढ़ निकालना पड़ता है। अतएव इस

दृष्टि से कवि और चित्रकार की अपेक्षा सरसहृदय श्रोता या दर्शक विशेष प्रशंसनीय है।"

अब उनके 'लिवर्टी' के अनुवाद का एक अंश सुनिए और इस भाषा से जिसमें 'खूब' के अतिरिक्त और कोई चलते शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, इस अनुवाद की भाषा से तुलना कीजिए:

"योरप में कोई दो सौ वर्ष से एक नया पन्थ निकला है। इस पन्थ के अनुयायियों का नाम सोसिया-लिस्ट है। इनका सिद्धान्त यह है कि संसार में जो कुछ है उस पर सब का बराबर हक़ है। ये लोग अमीर, ग़रीब और राजा, प्रजा सबको एक सा कर देना चाहते हैं। हाथ से काम करने वाले आदमियों में इस तरह के ख़यालात अभी से खूब फैल रहे हैं, और जो लोग कारीगर हैं, अर्थात् जो इन्हींका ऐसा व्यवसाय करते हैं, उन पर ऐसे ख़यालात ने जुल्म भी करना शुरू कर दिया है। यह बात सब को मालूम है कि सब तरह के व्यवसायों में अधिक हिस्सा ऐसे ही कारीगरों का है जो अच्छा काम करना नहीं जानता, पर इन लोगों का सचमुच ही यह ख़याल है कि इनको भी उतनी मज़दूरी मिलनी चाहिए जितनी अच्छे कारीगरों को मिलती है। इन लोगों के ख़याल ने यहाँ तक दौड़ मारी है कि अलग अलग छोटे काम करके, या किसी तरह से अधिक होशियारी या मेहनत के द्वारा यदि कोई कारीगर औरों से अधिक रुपया पैदा करता है तो उसे पैदा करने से रोकना चाहिए। और सामाजिक स्वभाव या आदत, और सामाजिक नातेदारी से संबंध रखनेवाली जितनी बातें हैं, वे कानून के हद के भीतर हैं। अतएव उनके विषय में क़ानून बनाना या न बनाना गवर्नमेंट की मरज़ी पर मुनहसिर है।"

आप दोनों उद्धरणों की भाषा के रूप और शैली का भेद सहज

ही देख सकते हैं। ख़याल, ख़यालात, हक़, ज़ुल्म, होशियारी, हद, मरज़ी, मुनहसिर आदि फारसी अरबी के शब्द तत्सम रूप में नुक्तों समेत उपयोग में लाये गये हैं।

अब उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों की भाषा के दो नमूने देखिए। वे सम्पादकीय को 'विविध विषय' शीर्षक से लिखते थे। सितम्बर, १९०५ में उनकी एक सम्पादकीय टिप्पणी यह है :

"शुक्रवार अगस्त १९०५ को बंगवासी प्रेस के मालिक बाबू योगेशचन्द्र वसु का शरीरपात हो गया। यह सुनकर हमें बहुत रंज हुआ। सुनते हैं आपकी उम्र अभी सिर्फ ५१ वर्ष की थी। पर गत दो तीन वर्षों से आपकी तबीयत अच्छी नहीं रहती थी। इससे आप कलकत्ता छोड़ कर मधुपुर चले गये थे। वहीं वे कुछ दिनों से रहते थे। बर्दवान ज़िले में एक जगह बड़गाँव है। वहीं आपका जन्म १८५५ ईसवी में हुआ था। १८८० ईसवी में वे कलकत्ते आये। आकर आपने बंगला में बंगवासी अख़बार निकाला। उसमें आपको कामयाबी हुई। कई वर्ष बाद आपने 'हिन्दी बंगवासी' की स्थापना की। उसमें भी आपको सफलता हुई, रूस जापान की लड़ाई शुरू होने पर आपने अंग्रेज़ी में एक दैनिक पत्र 'टेलिग्राफ' निकाला। उसका दाम आपने एक पैसा रखा। आपका यह अख़बार भी ख़ूब चल निकला। अच्छी अच्छी पुस्तकें उपहार में देकर ग्राहक बढ़ाने की आप ही ने पहले पहल युक्ति निकाली। बंगाली होकर आपने हिन्दी अख़बार निकाला और हिन्दी बोलने वालों में अख़बार पढ़ने की रुचि की वृद्धि की। अतएव हम लोग आपके कृतज्ञ हैं।"

यह उनकी सामान्य भाषा का नमूना है। हमने इनकी भाषा संबंधी मान्यता का जो उद्धरण पहले दिया है, यह उसका अच्छा नमूना है। उनकी टिप्पणियाँ संक्षिप्त होती थीं और आप देखेंगे कि वसु महोदय की मृत्यु पर उन्होंने केवल 'बहुत रंज' करके औपचारिकता पूरी कर दी। वसु महोदय ही नहीं, हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों की मृत्यु पर भी वे सामान्यतः इसी प्रकार की छोटी और औपचारिक टिप्पणियाँ लिखते थे, और बहुतों की मृत्यु की चर्चा भी नहीं

करते थे। किन्तु जब कभी कोई उन्हें छेड़ देता था, तो वे फिर उसे उपयुक्त उत्तर देते थे। पं० बालकृष्ण भट्ट हिन्दी प्रदीप निकालते थे, किन्तु अपने पैसे से, और स्वयं उनका वेतन कम था। परिवार का पालन भी करना पड़ता था। जब सरस्वती इण्डियन प्रेस से निकली तो बड़ी सजधज से सचित्र और अच्छे कागज़ पर आकर्षक ढंग से। इससे हिन्दी प्रदीप को धक्का लगा। भट्टजी ने इस पर लिखा था, 'नये मासिक पत्र चटकदार होते हैं पर उनमें गंभीर साहित्य नहीं होता।' भट्टजी का संकेत स्पष्टतः सरस्वती की ओर था। भला द्विवेदीजी इसे कब सहन कर सकते थे? उन्होंने इस पर अपने सम्पादकीय में लिखा :

"नये नये मासिक पत्रों को देखकर हमारे सतयुगी 'हिन्दी प्रदीप' को ईर्षा उत्पन्न हुई है। जिसे हम अब तक श्रद्धेय समझते रहे हैं और अब भी समझते हैं, उसमें ईर्षा, द्वेष, मद, मत्सर, कुढ़ या चिढ़ की मात्रा चाहे जितनी बढ़ जाय, हमारी भक्ति और श्रद्धा उस पर से अणु रेणु भर भी कम होने की नहीं। यदि नये पत्रों में चटकीलापन और चमक दमक देख पड़े, अथवा यदाकदा उनके लेखों में कोई छटा या अनुपमता आ जाय तो इसके लिये वे प्रशंसा के पात्र नहीं। प्रशंसा का पात्र प्रदीप है। क्योंकि जो कुछ इस नयी सृष्टि ने सीखा है वह उसने प्रदीप के प्रकाश ही में सीखा है। हमारी समझ से यदि, दैव न करे, प्रदीप बुझ भी जाय तो भी उसको खुश होना चाहिए क्योंकि "शिष्यादिच्छेत्पराभवम्", यह प्रदीप के समकक्ष किसी पुराने पंडित की आज्ञा है। गुदड़ी में लाल या ज़मुर्रद पिरोये रहने की घोषणा सुनकर भी यदि किसीके असंस्कृत हृदय में उनके पाने की इच्छा उत्पन्न न हो, अथवा यदि वे उसे ढूँढ़े ही न मिलें, तो उसीका दुर्भाग्य समझना चाहिए। प्रदीप की शिखा यदि कुछ ऊँची हो जाय तो, अधिक फैल जाने से, शायद आजकल के मदान्ध मनुष्य उन्हें ढूँढ़ लें।"

यह द्विवेदीजी का अत्यन्त संयत प्रहार है क्योंकि उन दिनों भट्टजी का आदर सारा हिन्दी संसार करता था। किन्तु फिर भी,

आदर दिखाते हुए भी, भट्टजी को ईर्षा, द्वेष, मद, मत्सर, कुढ़ या चिढ़ का आरोप लगाने में द्विवेदीजी को हिचक नहीं हुई। भट्टजी कोरे संस्कृतज्ञ थे। अंग्रेज़ी के विद्वान नहीं थे। इसलिए उन्होंने प्रकारान्तर से यह भी कह दिया कि प्रदीप की गुदड़ी में लाल और जमुर्रद ढूँढ़े भी नहीं मिलते। बेचारे भट्टजी, जिन्होंने अपने परिवार को कष्ट देकर प्राय: पचास वर्ष प्रदीप निकाला, एक पूँजी-पति के पत्र के समान वहिरंग को लुभावना बनाने में प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते थे। उन्होंने अपना यही क्षोभ व्यक्त किया था।

द्विवेदीजी, जैसा कि हम बतला चुके हैं, सामयिक घटनाओं पर बहुत कम लिखते थे। किन्तु हिन्दुओं की अनेक कुरीतियों में उनका ध्यान अपनी जाति की दहेज प्रथा के ऊपर और उसकी हीनावस्था पर गया था। उन्होंने स्वयं इस पर कविता लिखी और सनेहीजी से भी इस विषय पर कविता लिखवायी।

यद्यपि वे उर्दू के प्रचारक नहीं थे, किन्तु उन्हें उर्दू शब्दों से मोह था और उनका उपयोग वे उनके शुद्ध रूप में करते थे। एक बार तो सरस्वती में उन्होंने एक लम्बी कविता उर्दू में छापी थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ ये हैं:

एक आक़ा था हमेशा नौकरों पर सख़्तगीर
दरगुज़र थी और न साथ उसके रियायत थी कहीं।
बेसज़ा कोई ख़ता, होती न थी उसकी मुआफ़
काम से मोहलत कभी मिलती न थी उनके तईं।
हुस्ने ख़िदमत पर इजाफ़ा या सिला तो दरकिनार
ज़िक्र क्या निकले जो फूटे मुंह से उस्के आफ़रीं।
पाते थे आक़ा को वह, होते थे जब उससे दो चार
नथने फूले, मुँह चढ़ा, माथे पै बल, अबरू पै चीं।
थी न जुज़ तनख्वाह नौकर के लिए कोई फ़नूह
आफ़े हो जाते थे ख़ायन जो कि होते थे अमीं।
रहता था एक एक शरायतनामा हर नौकर के साथ
फ़र्ज जिसमें नौकर और आक़ा के होते थे तयीं।

इसमें लेखक का नाम नहीं है। कुछ लोगों का कहना था कि यह द्विवेदीजी ही की रचना थी।

आज उनके उर्दू शब्दों के उपयोग और मोह पर शायद कुछ लोग आक्षेप करें, किन्तु जिस समय द्विवेदीजी ने सरस्वती ली, उस समय नागरिकों में उर्दू का काफी प्रचार था और बहुत से उर्दू शब्दों का वे प्रयोग करते और उन्हें उनके हिन्दी पर्यायों की अपेक्षा शायद अधिक सरलता से समझते थे। द्विवेदीजी सरस्वती को नागरिकों—विशेष-कर अंग्रेज़ी शिक्षितों—में लोकप्रिय बनाना चाहते थे। शायद इसी कारण वे अपने सम्पादकीय टिप्पणियों में तथा कुछ ग्रन्थों और लेखों में उर्दू शब्दों का इतना प्रयोग करते थे। किन्तु जब वे कोई साहित्यिक लेख लिखते थे तब शुद्ध और परिनिष्ठित हिन्दी का प्रयोग करते थे। उन्होंने सरस्वती में सभी विषयों—यात्रा, पुरा-तत्व, इतिहास, भूगोल, कहानी, गंभीर साहित्यिक विषयों, जीवन चरित्रों—पर लेख छाप कर लोगों के ज्ञान और रुचि ही की वृद्धि नहीं की, प्रत्युत इन विषयों पर अच्छी हिन्दी में लिखने वाले भी उत्पन्न किये। अपने प्राय: २० वर्ष के सम्पादन काल में उन्होंने हिन्दी को व्याकरणसम्मत और परिनिष्ठित बना दिया। उनके तत्सम शब्दों पर जोर देने से देशज शब्दों का ह्रास होने लगा, और मेरी अपनी सम्मति में इससे हिन्दी का हित नहीं हुआ। उसमें एक कृत्रिमता और किताबीपन आ गया। दूसरा काम उन्होंने जो किया वह विराम चिन्हों के उपयोग में जो अराजकता थी, उसे दूर किया। आज की हिन्दी इन बातों के लिए उनकी और उनकी तरह के उस युग के अन्य आचार्यों की ऋणी है।

उस युग की एक अन्य विभूति लाला सीताराम थे जो 'भूप' उपनाम से कविता करते थे। वे अयोध्या निवासी थे और पहले शिक्षा विभाग में अध्यापक रहे और कुछ दिन बाद ही डिप्टी कलेक्टर हो गये। डिप्टी कलेक्टरी में उन्होंने अपनी योग्यता और कार्य-कुशलता से बड़ा नाम पैदा किया किन्तु उन्हें हिन्दी से अनन्य प्रेम था और उन्होंने निष्काम भाव से हिन्दी की जितनी सेवा की; और वह भी अपनी और दूसरों की पुस्तकों को अपने व्यय से छपा कर,

वह अद्वितीय थी। उन्होंने शेक्सपियर के सभी नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया। वे संस्कृत, नयी तथा पुरानी हिन्दी के भी विद्वान थे। उन्होंने प्रायः एक दर्जन संस्कृत नाटकों का भी अनुवाद किया। रघुवंश का पद्यबद्ध अनुवाद किया। अनेक स्फुट कविताएँ भी लिखीं जिनमें उनका 'बैरगिया नाला' नामक कविता जिसकी आरंभिक पंक्तियाँ थीं :

—बैरगिया नाला जुलुम जोर
जहँ बसैं साधु के भेस चोर

बड़ी लोकप्रिय हुई। वे इतिहास के भी विद्वान थे और उन्होंने अयोध्या का एक गवेषणापूर्ण इतिहास लिखा जिसे हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने प्रकाशित किया है। उन्होंने उस समय प्राइमरी स्कूलों में चलने वाली हिन्दी रीडरों के निम्न स्तर को देख कर इलाहाबाद के तत्कालीन डिप्टी इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स पं० दीनदयाल तिवारी के सहयोग से हिन्दी शिक्षावली नाम की एक रीडरमाला तैयार की जो पाँच भागों में थी। बड़ी कठिनाई से इण्डियन प्रेस उसे प्रकाशित करने को राजी हुआ। वह इतनी अच्छी थी कि बीसों वर्ष इस प्रान्त ही में नहीं, अन्य प्रान्तों और देशी राज्यों में पढ़ायी जाने लगी। उसने खड़ी बोली भाषा की शिक्षा का स्तर ऊँचा करने में बड़ा स्तुत्य कार्य किया। आज से कुछ वर्ष पूर्व तक वह फीजी में पढ़ायी जाती थी। जब प्रथम वर्ष के बाद इण्डियन प्रेस के स्वामी चिन्तामणि घोष ने उन्हें ५००/ रुपये भेजे तो यह कह कर उन्होंने उस धन को लेने से इनकार कर दिया कि मैंने तो इन्हें हिन्दी और शिक्षा की सेवा के भाव से लिखा था। भारत के विश्वविद्यालयों में सबसे पहिले कलकत्ता विश्वविद्यालय ने हिन्दी में एम० ए० कक्षाएँ आरम्भ कीं। उस समय एम० ए० के स्तर की पुस्तकें नहीं थीं। सर आशुतोष मुकर्जी ने (जो उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे) लालाजी से आग्रह किया कि वे एम० ए० के आठ पर्चों में से सात के लिए पुस्तकें तैयार करदें क्योंकि आठवें प्रश्न में निबंध लिखाया जाता था और उसके लिए

पुस्तक की आवश्यकता नहीं थी। लालाजी ने बड़ी लगन, अध्ययन और परिश्रम से सातों प्रश्नपत्रों के लिए पुस्तकें तैयार कर दीं और कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें प्रकाशित किया। वे वहाँ बहुत दिनों चलीं। यहाँ प्रकारान्तर से यह भी बतला दें कि फैजाबाद के स्वर्गीय एडवोकेट और मेरे मित्र पं० गुरुप्रसाद पाण्डे हिन्दी के पहले एम० ए० थे।

जब वे झाँसी में डिप्टी कलेक्टर थे तो उनका परिचय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी से हो गया जो वहाँ रेलवे विभाग में कर्मचारी थे। दोनों ही साहित्यप्रेमी और संस्कृतज्ञ थे। अतएव दोनों में काफी घनिष्ठता हो गयी। द्विवेदीजी ने 'बिहार बाटिका' नाम से ब्रज भाषा में गीतगोविन्द के कुछ अंशों का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद किया था। लालाजी ने स्वयं उसे छपवाया और उसका आमुख लिखा। उसमें उन्होंने ये वाक्य भी लिखे थे—

> "यह 'बिहार वाटिका' मेरे मित्र पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी की वाग्विलास है। पद्यरचना की सुघराई, यमक की मनोहरताई और लालित्य की अधिकाई आज इस मनभाई बाटिका को रसिक जनों को भेंट मेरे परम हर्ष का कारण हुई है।"

किन्तु दुर्भाग्य से किसी गलतफहमी के कारण द्विवेदीजी उनसे नाराज हो गये और फिर उन्होंने अवसर पाते ही उनकी कविता आदि कृतियों की बड़ी कड़ी आलोचना की। सरस्वती में कभी उनका नाम तक नहीं छापा। लाला सीताराम के काव्य की भाषा न तो शुद्ध ब्रजभाषा होती थी और न अवधी और न खड़ी बोली। वह कभी-कभी इन तीनों का 'आमफ़हम' मिश्रण होती थी। अतएव साहित्यिक दृष्टि से वह उच्चकोटि की न थी। मुझे मेरे अध्यापक और मित्र तथा लालाजी के द्वितीय पुत्र स्व० प्रोफेसर कौशल किशोर ने उस घटना का हाल बतलाया था जिससे दोनों में गलतफहमी हुई थी किन्तु उसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। मेरे लिए दोनों ही पूज्य और आदरणीय थे। अतएव मुझे यह अधि-

कार नहीं है कि मैं कह सकूँ कि दोष किसका था। किन्तु लालाजी ने विविध क्षेत्रों में हिन्दी की जो महत्वपूर्ण सेवा की और उसकी शिक्षा के स्तर को उठाने का जो कार्य किया उसका व्यापक प्रभाव हिन्दी की शिक्षा पर पड़ा। वे बड़े गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे और उनका व्यक्तित्व इतना भव्य तथा उनका व्यवहार इतना शिष्ट था कि मिलने वाले उनसे बहुत प्रभावित होते थे। मैं जब कभी उनके दर्शनों को गया—तब वे सेवामुक्त हो चुके थे और मुट्ठीगंज में रहते थे—मैंने उन्हें असंख्य पुस्तकों से भरे कमरे में अध्ययन या लेखन कार्य करते ही पाया। वे भी उन निष्काम और अत्यन्त हिन्दीनिष्ठ साहित्यिकों में थे जिन्होंने हिन्दी की उन्नति में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। यह बड़े खेद की बात है कि बाद की पीढ़ियों ने उनकी उपेक्षा की। हमारी अकृतज्ञता सचमुच ही आश्चर्यजनक है।

उस युग के दूसरे व्यक्ति, जिनका उल्लेख करना इस संक्षिप्त भाषण में भी आवश्यक है, मिश्रबन्धु थे। किन्तु सौभाग्य से हिन्दी में उनकी उपेक्षा नहीं हुई, अतएव मुझे उनके बारे में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। मिश्रबन्धु तीन भाई थे, श्री गणेशबिहारी मिश्र, रावराजा श्यामबिहारी मिश्र और पं० सुकदेवबिहारी मिश्र। ये 'एक जान तीन क़ालिब' थे। तीनों ही हिन्दी के विद्वान थे किन्तु बड़े भाई अधिकतर योजना बनाने, सलाह देने और तैयार पुस्तक को देख कर संशोधन आदि का ही काम कर दिया करते थे। यह कहना कठिन है कि शेष दोनों भाइयों में से किसका कृतित्व अधिक है। उन्होंने अनेक लेख और ग्रन्थ लिखे, किन्तु सबसे पहिला ग्रन्थ जिसने हिन्दी संसार का ध्यान आकर्षित किया वह हिन्दी 'नवरत्न' था। उसे खंडवा के स्व० माणिकचन्द जैन ने इण्डियन प्रेस में बहुत सुंदर छपा कर प्रकाशित किया था। इस पुस्तक के महत्व ने हिन्दी संसार को लुब्ध कर दिया, किन्तु साथ ही पुस्तक में कवियों का जो मूल्यांकन किया गया था वह लम्बे साहित्यिक विवाद का विषय बन गया। देव बड़े कवि हैं या बिहारी—इस पर बहुत दिनों विवाद

चला। उनका दूसरा स्मरणीय ग्रन्थ 'मिश्रबन्धु विनोद' है जिसमें उस समय तक के हजारों ज्ञात और अज्ञात कवियों तथा उनके ग्रन्थों का परिचय तथा उन पर लेखकों की सम्मति है। यह हिन्दी का अनुपम संदर्भ ग्रन्थ है और इससे पता लगता है कि लेखकों का ज्ञान का विस्तार कितना था तथा काव्य की गहराई में पड़ने की कितनी शक्ति थी। यह ग्रन्थ हिन्दी के भविष्य के इतिहासकारों के लिए एक आधार शिला है। इस महान कार्य में उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ा होगा, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। ये तीनों भाई भी हिन्दी के अनन्य भक्त होने के कारण उसकी निष्काम सेवा करते थे। उन्होंने अपनी पुस्तकों से अर्थसाधन की कभी इच्छा नहीं की। केवल मिश्रबन्धु विनोद ग्रन्थ ही उनकी कीर्ति को अक्षय रखने के लिए पर्याप्त है।

मेरे मस्तिष्क में उस समय के अनेक साहित्यकार घूम रहे हैं जिनका उल्लेख मुझे करना चाहिए। किन्तु इस छोटे से भाषण में उसके लिए अवकाश नहीं फिर भी उनका उल्लेख न करने से यह न समझा जाय कि मैं उनकी अवज्ञा कर रहा हूँ। किन्तु दो नाम उल्लेख करना परमावश्यक समझता हूँ—एक तो चन्द्रकान्ता के लेखक श्री देवकीनन्दन खत्री और दूसरे जासूसी उपन्यासों के लेखक गोपालराम गहमरी का। इनके बारे में आप स्वयं इतना जानते हैं कि मुझे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। उस समय राजे रईस भी हिन्दी में रुचि लेते थे। रीवा के महाराज रघुराजसिंह का कृतित्व तो प्रसिद्ध ही है। चरखारी नरेश ने भी कई काव्य लिखे। अयोध्या नरेश राजा मानसिंह की 'कीर्ति लता सौरभ' और उनके पुत्र महाराज प्रताप सिंह का 'रस कुसुमाकर' चिरस्मरणीय हैं। कालाकांकर नरेश राज रामपाल सिंह ने हिन्दी का पहिला दैनिक 'हिन्दोस्थान' इसी समय निकाला। पिछले दो सज्जन लेखक ही नहीं थे, वे हिन्दी प्रचार के आन्दोलन और कचहरियों में हिन्दी के प्रवेश के लिए जो आन्दोलन हो रहा था, उसका समर्थन ही नहीं, उसके साथ सक्रिय सहयोग भी करते थे।

साहित्येत्तर हिन्दी वाङमय

अभी तक मैंने साहित्यिक विषयों के लेखकों और पुस्तकों की चर्चा की है। किन्तु उस युग में हिन्दी में दूसरे विषयों की पुस्तकें तैयार करने का काम भी आरम्भ हो गया था। उस युग में फैलन साहब के हिन्दुस्तानी कोश के अतिरिक्त केवल दो हिन्दी कोश प्रचलित थे—श्रीधर कोश और गौरी कोश। पिछला कोश मेरठ के प्रसिद्ध हिन्दी प्रचारक पं० गौरी दत्त ने तैयार किया था। मथुरा प्रसाद मिश्र की ट्राइलिंगुअल डिक्शनरी प्रसिद्ध हो गयी थी। किन्तु हिन्दी में कोशों की परम्परा नयी नहीं थी। इसके पूर्व अमरकोश की तरह पद्य में हिन्दी में भी अनेक कोश बने थे जिन्हें 'नाम माला' या 'नाममंजरी' कहते थे। ऐसी एक पुस्तक मेरे पूज्य पिताजी ने सम्पादित की थी जिसका नाम मानस मंजरी है, उसके नमूने के दो दोहे देखिए:

वटनाम

जटी, कपर्दी, रक्तफल, बहुपद, ध्रुव, न्यग्रोध
यह बंसीवट देखि वलि सब रस को अवरोध

यमुनानाम

यम अनुजा, रविजा, यमी, कृष्णा, श्यामा, सजाप
यह यमुना सब समद फिरि आवति तुव परताप।

फैलन साहब ने एक कहावत कोश भी तैयार किया था जो अप्राप्य था। अब बुक ट्रस्ट ने श्री कृष्णानन्द गुप्त से संशोधित करा कर उसका नवीन संस्करण किया है। छोटे-मोटे और भी कहावत कोश निकले किन्तु वे उल्लेखनीय नहीं हैं।

अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, डाइनेमिक्स, स्टेटिक्स, इन्जीनियरिंग, सर्वेइंग आदि पर भी अनेक पुस्तकें निकलीं। मैंने ऐसी उस युग की (१८५७ या उससे पहले से १९०८ तक की) प्रकाशित पुस्तकों की एक बार सूची बनायी थी। उनमें प्राचीन

भारतीय ज्योतिष और वैद्यक ग्रंथ आदि न थे फिर भी उस सूची में लगभग दो सौ ग्रन्थ थे। आधुनिक खगोल, भूगर्भ विद्या, संगीत, शिकार, शतरंज, शिल्पकारी आदि पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। उनकी विविधता और विस्तार देख कर आश्चर्य होता है कि उस युग में जब अंग्रेज़ी बहुत नहीं फैली थी, हमारे हिन्दी सेवियों ने इन विषयों में पुस्तकें लिख कर हिन्दी के भंडार को भरने का कितना प्रयत्न किया। मैं उनकी लंबी सूची देकर आपको उबा देना नहीं चाहता किन्तु उसका कुछ आभास देने के लिए कुछ बहुत ही चुनी हुई पुस्तकों के नामों और उनके विषयों को आपके सामने प्रस्तुत करता हूँ।

लक्ष्मीशंकर मिश्र ने गतिविद्या (डाइनेमिक्स) १८५७ में, स्थितिविद्या (स्टेटिक्स) १८८८ में और पदार्थ विज्ञान (भौतिक शास्त्र) १८७५ में प्रकाशित किये। नवीनचन्द्र राय (श्रीमती हेमन्त कुमारी चौधरी के पिता) ने निर्माण विद्या (सिविल इंजि-नियरिंग) पर पंजाब विश्वविद्यालय में १८८२ में, सुधाकर द्विवेदी ने चलन कलन (उच्चगणित) पर १८८६ में, बापूदेव शास्त्री ने व्यक्तगणित १८७५ में, उमरावसिंह ने रेखागणित सिद्धान्त चन्द्रोदय १८७६ में, रामावतार शुक्ल ने इसी नाम की और इसी विषय की दूसरी पुस्तक १८७६ में, प्रतापसिंह ने क्षेत्र संहिता १८८० में, आदित्यराम भट्टाचार्य ने बीजगणित १८७४ में, कुंजबिहारी लाल ने सुलभ बीजगणित १८७५ में, ज़काउल्ला ने क्षेत्रमाप प्रकाशिका १८८५ में, कलकत्ता के महेन्द्रनाथ भट्टाचार्य ने पदार्थ विज्ञान (भौतिकी) १८७३ में, मोहनलाल ने दौत बिजली और रगड़ बिजली नाम की पुस्तकें क्रमशः १८७८ और १८७१ में प्रकाशित कीं। रसायन शास्त्र पर उल्लेखनीय पुस्तक कलकत्ता के विश्वम्भर नाथ ने रसायन संग्रह १८६८ में, प्राणिशास्त्र पर एडवर्ड क्लाड (Edward Claude) की पुस्तक का अनुवाद विनायकराव ने १८८२ में किया, तथा लक्ष्मीनाथ सिंह ने जीवजन्तु नामक पुस्तक १८९० में लिखी। भूगर्भ विद्या (जिओलोजी) पर कलकत्ता

सोसाइटी ने १८४६ में, पदार्थ विज्ञान सागर, और मथुरादास ने १८८७ में प्रश्नोत्तर जड़तत्व विज्ञान लिखी। संगीत पर गोपाल लाल ने १८८५ में संगीत वीणा तरंग, राजा बहादुर फतेहसिंह वर्मा ने राग प्रकाशिका १८९९ में तथा सफदर हुसेन ने वीणा प्रकाश १८८३ में लिखी। शिकार पर मिर्जापुर से १८८५ में कायदा शिकार और मनमथनाथ चतुर्वेदी ने मथुरा से फोटोग्राफी नाम की पुस्तक प्रकाशित की। जानकीप्रसाद ने शतरंज पर 'चतुरंग विनोद' १८८५ में, स्याही बनाने पर रामप्रताप शर्मा ने 'मसिदर्पण' १८९० में, गंगाप्रसाद ने 'सुघर दर्जिन' १९०८ में, सुनारी १९०७ में और देशी करघा १९०८ में लिखी। रामचरण पाठक ने फरुखाबाद से एक बड़ी पुस्तक 'शिल्पसंग्रह' लिखी जिसमें अभियंत्रण, भौतिकी के सिद्धान्त तथा मशीनों के सिद्धान्तों का सचित्र वर्णन था। यह फरुखाबाद से १८८६ में छपी। इसी प्रकार की दूसरी पुस्तक 'शिल्प चमत्कार चिन्तामणि' चन्द्रप्रभा मिश्र ने १८८४ में प्रकाशित की थी। खेतीबारी और पशुओं पर भी पुस्तकें लिखी गयीं। लक्ष्मण सिंह ने ढोरों का इलाज आगरे से १९०० में, लालप्रताप सिंह ने बंबई से कृषि कौमुदी १८५६ में, राधारमण ने इटावा से 'खेतीबारी' १८८० में, रामप्रकाश लाल ने भूतत्व प्रकाश (धरती की किस्मों पर) पटना से १८८५ में और शिवचंद्र मौलि ने पशुचिकित्सा १८९६ में लिखी। खगोल विद्या पर कुंजबिहारी लाल ने 'खगोल विद्या' १८५७ के पहले लिखी क्योंकि इसका १८५७ का द्वितीय संस्करण भी मेरे देखने में आया। उन्होंने 'दशमलवदीपिका' भी उसी समय लिखी थी।

इतिहास यात्रा, भूगोल आदि विषयों पर इस देश में बहुत कम रुचि रही। अतएव इन पर बहुत पुस्तकें इस आलोच्यकाल में नहीं निकलीं। फिर भी वंशीधर ने 'भारतवर्षीय इतिहास' नामक आरंभिक पुस्तक १८४६ में लिखी। यह आगरे के प्रसिद्ध सिकन्दरा मिशन प्रेस में छपी थी। निरंजन मुकर्जी ने 'भारतवर्षीय राज्य संग्रह' १८५७ में लाज़रस प्रेस काशी से प्रकाशित किया। मुंशी

देवी प्रसाद ने शाहजहाँ नाम का अनुवाद १८५२ में और 'आमेर के राजे' १८८९ में प्रकाशित किये। काशीनाथ खत्री ने कर्नल आल्काट की एक पुस्तक 'भारत त्रिकालदशा' १८८३ में अनुवादित की। भुवनचन्द्र वासक ने 'बंगला देश का इतिहास' कलकत्ते से १८६९ में प्रकाशित किया। १९०४ में गंगाप्रसाद गुप्त ने भारत जीवन प्रेस काशी से बर्नियर की भारत यात्रा का अनुवाद, तिब्बत के ऊपर एक पुस्तक १९०५ में, पूना का इतिहास १९०६ में प्रकाशित की। बलदेवप्रसाद मिश्र ने नेपाल का इतिहास १९०४ में बंबई से छपाया। नटवर चक्रवर्ती ने अफगानिस्तान का इतिहास बंगवासी प्रेस से १९०५ में, और इसी वर्ष खड्ग विलास प्रेस पटना ने कर्नल टाड के राजस्थान के इतिहास का प्रथम भाग प्रकाशित किया। १८९६ में नरसिंहपुर से महाराज सिंह ने बुंदेलखण्ड का इतिहास निकाला। प्राचीन लेख मणि माला का प्रथम भाग ना० प्र० सभा ने १९०७ में प्रकाशित किया। हनुमंतसिंह रघुवंशी ने आगरे से मेवाड़ का इतिहास १९०४ में, हरिकृष्ण जौहर ने भारत के देशी राज्य १९०६ में, ठाकुर सूर्य कुमार सिंह ने ग्रीस की स्वाधीनता १९०६ में, रमेशचन्द्र दत्त के इतिहास का एक भाग प्रताप प्रेस ने १९०५ में, राधारमण चौबे ने भरतपुर राज्य का इतिहास १८९६ में, रामनारायण मिश्र ने जापान का संक्षिप्त इतिहास १९०४ में लिखा। इसके पहिले १८९८ में वे 'परासियों का इतिहास' लिख चुके थे। स्वामी विद्यातीर्थ ने लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस से इसी वर्ष (१८९८ में) महाराष्ट्र कुल वंशावली निकाली थी। महेन्दुलाल गर्ग ने १९०३ में 'चीन दर्पण' और १९०७ में 'जापान दर्पण' तथा 'जापान की कहानी' लिखी। सोमेश्वर दत्त शुक्ल ने १९०४ में 'इंगलैण्ड का इतिहास', जर्मनी का इतिहास और फ्रान्स का इतिहास नामक तीन इतिहास इण्डियन प्रेस से प्रकाशित किये। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि आधुनिक हिन्दी के जनक इस क्षेत्र में भी अग्रगामी थे। उन्होंने 'अगरवालों की उत्पत्ति' १८७६ में, 'बूँदी का राजवंश' १८८२ (जो खड्ग

विलास प्रेस से छपा था), और १८८४ में लाज़रस प्रेस से 'काश्मीर कुसुम' तथा मेडिकल हाल प्रेस से 'बादशाह दर्पण' प्रकाशित कर साहित्येत्तर वाङमय को प्रोत्साहन दिया था।

यही नहीं, कानून और सैन्य विज्ञान पर भी हिन्दी में पुस्तकें लिखी गयीं। १८८६ के लगभग इण्डियन पिनल कोड का अनुवाद किया गया। इसकी भाषा देखिये—

> धारा–२४२–जो कोई मनुष्य छलछिद्र से अथवा छलछिद्र किये जाने के प्रयोजन से कोई भी मनुष्य ऐसा खोटा सिक्का अपने पास रक्खेगा जिसको उसने अपने पास आने के समय जान लिया हो कि खोटा है उसको दण्ड दोनों में से किसी प्रकार की कैद का जिसकी मीआद तीन बरस तक हो सकेगी, किया जायगा और जुर्माने के भी योग्य होगा।

इसकी भाषा की तुलना भारत सरकार के अत्यन्त खर्चीले अनुवाद की भाषा से करना रोचक होगा।

सैन्य विज्ञान पर 'ड्रिल बुक' नाम से बड़े आकार के ३९६ पृष्ठों में १८८६ में मास्टर मूलचन्द ने अंग्रेज़ी की किसी पुस्तक का अनुवाद किया। इसमें अनेक रेखाचित्र हैं और कवाइद से लेकर ब्यूह रचने, आक्रमण करने, बचाव करने आदि सम्बन्धी सभी बातें बड़े विस्तार से समझायी गयी हैं। यद्यपि यह देवनागरी लिपि में है किन्तु इसकी भाषा हिन्दुस्तानी है जो उस समय सेना में चलती थी।

हम लोग आज बिबलिओग्राफी (Bibliography) की बात करते हैं और एक-दो बिबलिओग्राफी निकली भी हैं, किन्तु हमारे इस युग के पूर्वजों ने यह कार्य आरम्भ कर दिया था यद्यपि वह छोटे पैमाने पर था। यह पुस्तक 'काव्य कीर्ति कलानिधि' काशी से सन् १८९२ में छपी। इसके रचयिता डुमराँव के श्री नकछेद तिवारी उपनाम अजान कवि थे। इसमें अकारादि क्रम से ३६० लेखकों और उनकी कृतियों के नाम हैं। दूसरे खण्ड में अकारादि क्रम से सभी वर्णित पुस्तकों के नाम और उनके लेखकों का संकेत

है। बिबलिओग्राफी बनाने का बीजरूप में कार्य तभी आरंभ हो गया था।

जैसा कि भारतेन्दु ने कहा था, मानक वैज्ञानिक शब्दावली की बड़ी आवश्यकता थी। १६०५–०६ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने यह कार्य किया। भारत के प्रो० गज्जर ऐसे शीर्षस्थ वैज्ञानिकों की सहायता से उसने हिन्दी साइन्टिफिक वॉकेबुलरी (Hindi Scientific Vocabulary) तैयार की जो आज भी अनुपयोगी नहीं हुई।

कहने का तात्पर्य यह है कि उस आरंभिक काल में सीमित साधनों के होते हुए भी हिन्दीसेवी इतने सक्रिय और जागरूक थे कि वे हिन्दी के भण्डार को केवल आधुनिक साहित्य से ही नहीं, बल्कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के भण्डार से भी भरने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे।

अंत में अनुवादों के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा कर देनी आवश्यक है। उस युग में संस्कृत के प्रायः सभी ग्रन्थों—धर्म, ज्योतिष, वैद्यक, गणित आदि के ग्रन्थों के अनुवाद तो हुए ही, साथ ही अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं के भी अनेक अनुवाद हुए। अंग्रेज़ी की पुस्तकों के अनुवाद करने में इसी जिले के सिरसा निवासी काशीनाथ खत्री और लाला सीताराम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ तक कि मैंने लड़कपन में Jules Verne के वैज्ञानिक उपन्यास Round the World in Eighty days का अनुवाद पढ़ा था। भारतीय भाषाओं की पुस्तकों के अनुवाद भी हुये किन्तु अधिक अनुवाद बंगला पुस्तकों के हुये। मुझे सबसे पुराने बंगाली पुस्तकों के अनुवाद की याद माडेल भगिनी की, विलायत की चिट्ठी की और बंकिम बाबू के कुछ उपन्यासों की है। प्रतापनारायण मिश्र ने उनके कुछ अनुवाद किये थे किन्तु मेरे मानसपटल पर सबसे अधिक प्रभाव पूर्णिया के राजा कमलानन्द सिंहजी के आनन्दमठ के अनुवाद का पड़ा था। हिन्दी में अनुवादों का विषय इतना विस्तृत है कि यहाँ मैं केवल इसका उल्लेख करके ही संतोष किये लेता हूँ। बंगला के अनुवादों

का हिन्दी पर विशेष प्रभाव पड़ा। शैली, विषयवस्तु ही नहीं भाषा पर भी। 'चेष्टा', 'सुतराँ' आदि शब्द हमने बंगला ही से लिए। हिन्दी में उपन्यास लिखने की प्रेरणा बंगला उपन्यासों के कारण हुई या अंग्रेज़ी उपन्यासों के कारण, यह विवादग्रस्त विषय है। इसका निर्णय मैं आप विद्वानों पर छोड़ता हूँ। किन्तु यह निर्विवाद है कि हमारे उस युग के लेखकों ने अंग्रेज़ी और भारतीय भाषाओं के साहित्य को हिन्दी में लाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था।

इनमें से प्रत्येक विषय ऐसा है जिस पर एक स्वतंत्र भाषण दिया जा सकता है किन्तु इस छोटे से भाषण में मैं इन विषयों की ओर संकेत करके ही संतोष करता हूँ। एक बात और कह दूँ, मैंने तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं पर जानबूझ कर कुछ नहीं कहा क्योंकि उनका संक्षिप्त विवरण भी इस भाषण को और लम्बा बना कर आपके धैर्य को समाप्त कर देगा।

द्वितीय भाषण

आधुनिक हिन्दी के आरम्भ का ब्रजभाषा काव्य

न मालूम आधुनिक हिन्दी का जन्म किस मुहूर्त में हुआ कि आरम्भ ही से अब तक उसमें तरह-तरह के विवाद होते चले आ रहे हैं, और हिन्दीवालों की बहुत सी शक्ति उनमें क्षीण हुई और हो रही है। आधुनिक हिन्दी में तीन महत्वपूर्ण संघर्ष या विवाद हुए, जिनमें पहिला तो हिन्दी के रूप को लेकर था। राजा शिवप्रसाद यद्यपि अपने साहित्यिक ग्रन्थों में तत्कालीन परिनिष्ठित हिन्दी गद्य का प्रयोग करते थे तथापि साहित्येतर स्कूली विषयों की पुस्तकों में उस समय की राजनीतिक परिस्थिति के कारण देवनागरी लिपि में उर्दू के प्रयोग के पक्षपाती थे। भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों के कारण बहुत बाद में अन्य विषयों की पाठ्य पुस्तकें भी परिनिष्ठित हिन्दी में लिखी गयीं और सरकार द्वारा स्वीकृत भी की जाने लगीं, किन्तु यह विवाद एकदम समाप्त नहीं हुआ। १९२०-३० के बीच सरकार द्वारा प्राईमरी स्कूलों की पुस्तकों को तथाकथित कामन लैंग्वेज में तैयार करके चलाने का, जिनकी लिपि फ़ारसी या देव-नागरी होती थी, उसी मूल विवाद का पुनर्जीवन था। बाद में महात्मा गांधी ने भी राजनीतिक कारणों से हिन्दुस्तानी प्रचार आरम्भ किया और उनके द्वारा प्रेरित संस्थाओं, जैसे दक्षिण भारत प्रचार सभा ने हिन्दुस्तानी का प्रचार करना आरम्भ कर दिया था और फ़ारसी लिपि पढ़ाना अनिवार्य कर दिया था। बिहार में तो 'बादशाह राम' और 'बेगम सीता' के समान प्रयोगों को लेकर काफी बवंडर उठ खड़ा हुआ था। गांधीजी ने तो सम्मेलन में हिन्दी की परिभाषा ही बदलवा दी थी। वह परिभाषा यह थी कि

हिन्दी वह भाषा है जो उत्तर भारत के नगरों में बोली जाती है और जो फ़ारसी लिपि और देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। मैं बिना किसी गर्व के यह दावा कर सकता हूँ कि हिन्दी प्रेमी मित्रों की सहायता से अध्यक्ष श्री जमनालाल जी बजाज और आदरणीय काका कालेलकर के विरोध के बावजूद मैं शिमला सम्मेलन में उस परिभाषा को निरस्त करने में सफल हुआ था और नई परिभाषा का आशय यह था कि हिन्दी वह भाषा है जिसकी परम्परा सूर, तुलसी, देव, कबीर आदि से चली आती है और जो उत्तर भारत में बोली जाती और देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। इसमें राजर्षि का वरद हस्त मेरे ऊपर था। ये सब हिंदी के तथाकथित कथित सरलीकरण और चोर दरवाजे से लाये जाने वाले हिन्दी के लिए फ़ारसी लिपि के उपयोग के सभी आन्दोलन अपनी स्वाभाविक मौत मर गए, यद्यपि हिन्दी के "सरलीकरण" के बहाने कुछ लोग उस निकले हुए साँप की लकीर को आज भी पीटे चले जाते हैं। राजा शिवप्रसाद वाले विवाद का संक्षेप वृतान्त में यथास्थान दे चुका हूँ। अब इस भाषण में १८५७ से १९०८ तक के हिन्दी पद्य का कुछ दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करूँगा।

सौभाग्य से उस समय अर्थात् १८५७ से १८८५ तक कविता की भाषा के संबंध में कोई विवाद न था। हिन्दी के प्रमुख गद्यकार जैसे भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, अयोध्यानरेश महाराजा प्रताप सिंह, राजा लक्ष्मण सिंह, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघनजी, किशोरीलाल गोस्वामी, अंबिकादत्त व्यास आदि सभी ब्रजभाषा में ही कविता करते थे। ब्रजभाषा ही कविता की भाषा के रूप में मान्य थी, और उसकी प्रतिष्ठा थी। यह एक बड़ी रोचक बात है कि बाद में जो कई धुरधंर खड़ी बोली के कवि प्रसिद्ध हुए, और उनमें से कितने ही बाद में ब्रजभाषा कविता के घोर विरोधी भी हो गए, उनमें से कितनों ने ही उन दिनों अर्थात् १८९९ तक ब्रजभाषा में ही कविता लिखी। उदाहरण के लिए, महाबीरप्रसाद द्विवेदी ने अपना काव्य जीवन १८८१ से आरम्भ किया और उन्होंने १८९९ तक केवल ब्रजभाषा में ही कविता लिखी। उनकी पहली

खड़ी बोली की कविता १८६६ में श्री वैंकटेश्वर समाचार में छपी थी जिसका शीर्षक था "वलीवर्द", और उसकी प्रथम पंक्ति थी 'वलीवर्द जी मर्द गाय के, गर्द उड़ाने वाले वीर।' इनके संबंध में अधिक जानकारी अगले भाषण में दूँगा। मैथलीशरण गुप्त ने अपना जीवन ब्रजभाषा के कवि के रूप में आरम्भ किया और उन्होंने अपना उपनाम 'रसिकेन्द्र' रखा था। बाद में जब उपनाम रखना ब्रजभाषा की दकियानूसी परम्परा समझी जाने लगी तब उन्होंने उसे छोड़ दिया। जब कालपी के द्वारकाप्रसाद गुप्त का विवाह उनकी बहिन से हुआ और उन्हें भी कविता करने का शौक हुआ तब उन्होंने गुप्तजी से अच्छा उपनाम सुझाने को कहा था। गुप्तजी ने कहा मैंने रसिकेन्द्र उपनाम छोड़ दिया है। तुम वही ले लो। उन्होंने अपना उपनाम रसिकेन्द्र रख लिया। वे मेरे मित्र थे और मैं विनोद में उनसे कहा करता था कि यह नाम तुम्हें दहेज में मिला है। स्वयं श्रीधर पाठक जो खड़ी बोली के आदि कवि समझे जाते हैं, और जिन्होंने द्विवेदीजी और गुप्तजी को खड़ी बोली में कविता लिखने को प्रेरित किया, आरम्भ में ब्रजभाषा में कविता लिखते थे। अपने खड़ी बोली के प्रथम काव्य एकान्तवासी योगी के बाद उन्होंने Deserted Village का अनुवाद ब्रजभाषा में किया, 'काश्मीर-सुषमा', 'आराध्य शोकांजलि' और 'हिमालय' आदि कितनी कविताएँ ब्रजभाषा में लिखीं। उन्होंने कभी ब्रजभाषा कविता का विरोध नहीं किया।

हिन्दू पुनर्जागरण और राजनीतिक बढ़ती हुई चेतना का प्रभाव ब्रजभाषा के कवियों पर पूरी तरह पड़ा। कुछ तत्कालीन कवियों को छोड़कर उनमें से किसी ने रीति ग्रन्थ या श्रृङ्गारिक कविताएँ नहीं लिखीं और लिखीं भी तो नाम मात्र को। ये प्रभाव उस समय ब्रज-भाषा की कविता में तीन रूपों से प्रकट होते थे—गिरी हुई हिन्दू जाति का मनोबल बढ़ाने के लिए अतीत के गौरव का गान, राज-नीतिक शोषण पर प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रहार कर राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने का प्रयास, और सारे भारत की एकता पर बल।

दूसरी मनोरंजक और महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि उस समय के सभी कवि ब्रजभाषा में कविता करते थे और ब्रजभाषा के प्रेमी भी थे तथापि इनमें से किसीने, शायद गोस्वामी राधाचरण और प्रतापनारायण मिश्र को छोड़कर, खड़ी बोली में कविता करने का विरोध नहीं किया। यही नहीं, उनमें से कितनों ने ही थोड़े बहुत छंद खड़ी बोली में उन दिनों लिखे भी। खड़ी बोली का कड़ा और निरन्तर विरोध करने वाले रत्नाकरजी थे जिन्होंने कभी खड़ी बोली में जानबूझ कर कोई कविता नहीं लिखी और जिन्होंने उसके हिमायतियों के विरुद्ध एक लंबी कविता लिखी थी जिसकी कुछ पंक्तियाँ ये थीं——

पै अब केते भए हाय इमि सत्यानासी
कवि औ जाँचक रस-अनुभव सों दोऊ उदासी
शब्द अर्थ कौ ज्ञान न कछु राखत उर माहीं
सक्ति, निपुनता औ अभ्यासहु लेसहु नाहीं।

० ० ०

जात खड़ी बोली पै कोऊ भयौ दिवानो
कोउ तुकान्त बिन पद्य लिखन में है, अरुझानौ
अनुप्रास-प्रतिबंध कठिन जिनके उर माँहीं
त्यागि पद्य-प्रतिबंधहु लिखत गद्य क्यों नाहीं ?

सरस्वती में खड़ी बोली की पहिली कविता किशोरीलाल गोस्वामी की प्रकाशित हुई थी यद्यपि वे ब्रजभाषा के धुरन्धर कवि थे और उन्होंने छोटे बड़े बीसों काव्य ब्रजभाषा में लिखे हैं। ब्रज-भाषा के कवि कभी खड़ी बोली की कविता के विरोधी नहीं रहे। यहाँ तक कि भूषण ने भी एक दो छंद खड़ी बोली में लिखे थे। एक उदाहरण सुनिए——

बचेगा न समुहाने बहलोल खाँ,
अपाने भूषण बखाने दिल चरचा,
तुमसे सवाई तेरा भाई सलहोरी पास,
कैद किया साथ का न कोई और बरचा।

साहिज के औरंग हूं के लीन्हे गढ़,
जिसका तू चाकर और जिसकी तू परजा,
साहि का ललन, अफजल का मलन,
दिल्ली दल का दलन, शिवराज आया सरजा।

इसमें ब्रजभाषा का पुट अवश्य है, किन्तु इससे अधिक नहीं जो खड़ी बोली के आरम्भिक कवियों की कविता में बहुधा मिलता है।

कुछ मराठी संतों के पद भी खड़ी बोली के आरम्भिक रूप में मिलते हैं। भूषण के बाद के ब्रजभाषा के भी कई कवि कभी-कभी खड़ी बोली में लिखते थे, केवल ग्वाल कवि का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। उनका छंद देखिए——

दिया है खुदा ने खूब, खुशी करो 'ग्वाल कवि',
खाओ पियो, दे लो, ले लो, यही रह जाना है।
राजा राव उमराव जेते बादशाह गये,
कहाँ ते कहाँ को गये लगा न ठिकाना है।
ऐसी जिन्दगानी के भरोसे पे गुमान करो,
देश देश घूम घूम मन बहलाना है,
आवे परवाना, पर चले न बहाना यहाँ
नेकी कर जाना पै आना है, न जाना है।

किन्तु विचारणीय यह है कि काव्य के लिए ब्रजभाषा का व्यापक प्रयोग गुजरात और मालवा तथा पंजाब से बिहार तक क्यों होता था और वह कैसे हो गया? उर्दू मुस्लिम काल में कभी राजभाषा नहीं रही और मुहम्मद शाह रंगीले के समय तक मुगल दरबारों में उसे कोई स्थान नहीं था। स्वयं मुहम्मद शाह ने ब्रजभाषा में गीत लिखे हैं। फरुखसियर के समय में सैयद भाइयों का बड़ा दबदबा था, सल्तनत की वास्तविक शक्ति उन्हींके हाथ में थी। इनमें से छोटे भाई हुसैन की दरबारदारी में बिलग्राम के सैयद अबदुल रहते थे। उन्होंने फ़ारसी में अपने पुत्र को जो पत्र लिखे थे वे अंग्रेज़ी अनुवाद सहित छपे हैं। उसमें से एक पत्र में उन्होंने लिखा था "एक दिन अमीरुल उमरा से वार्तालाप करते

समय कवि आलम के कवित्तों की चर्चा उठी। आलम की कविता उन्हें बहुत प्रिय है। उन्होंने मुझे उनकी कविताओं को एकत्र करने का आदेश दिया है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि हरबंस मिश्र या दिवाकर या उनके पुत्रों या अन्य लोगों के जितने कवित्त या सीख (साखी) जो दोनों एक ही वस्तु हैं, मिल सकें, उन्हें साफ हिन्दी लिपि में लिखवा कर एक दो बार करके मेरे पास भेज दो। हिन्दी लिपि स्पष्ट होती है और ठीक ठीक पढ़ी जाती है। फारसी लिपि में लिखने से उसके शब्द कई तरह से पढ़े जा सकते हैं। किन्तु हिन्दी अक्षर बड़े हों। इसे तुम मेरी आवश्यक आज्ञा समझना।"

इतना ही नहीं, जब हुसैन के एक पुत्र उत्पन्न हुआ तो उस समय की प्रथा के अनुसार उन्होंने उसके जन्म की बधाई देते हुए कविता में उसकी तारीख कही। उन्होंने तीन भाषाओं में, जो उस समय मुसलमानों में प्रचलित थीं, तीन कविताएँ बनाईं। एक अरबी में, एक फारसी में और एक हिन्दी में। यह याद रहे कि उन्होंने उस भाषा को "हिन्दी" कहा है—ब्रजभाषा नहीं। वह दोहा यह है:

पुत्र जन्म सम्बत कहूं, बंस हुसैन महीप,
चिरजीवै जुग जुग सदा, यह सुपुत्र कुलदीप।

मुसलमान दरबारों ही में नहीं, सिखों के दरबारों में भी हिन्दी कवि रहते थे। ग्वाल कवि महाराज रंजीत सिंह के दरबार में कई वर्ष रहे। बिहार में ब्रजभाषा काव्य की परम्परा कितनी पुरानी है, यह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा प्रकाशित एक विशालकाय ग्रन्थ से स्पष्ट है। "हिन्दी साहित्य को विदर्भ की देन" नामक ग्रन्थ में, जो विदर्भ हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने प्रकाशित किया है, महाराष्ट्र के संतों के अतिरिक्त भोसला काल और उसके पूर्ववर्ती कवियों के हिन्दी कविता के उदाहरण दिये गये हैं। बारकरी सम्प्रदाय के दत्त चरित्र में कुछ हिन्दी के पद भी मिलते हैं जैसे :

छोड़ दिया सब काम धाम, तब शिव मन खाक लगावै,
ढूंढत ढूंढत गया विपिन मो, तब नार नार मुख गावै।

तब देखे वन मो विपट जल सो तो रहत अकेली।
पूंछत शिव क्या कारण अब तुम हमसे करत न केली।।

मधुर वचन बोलत सुर, हम तीन लोक रहवासी।
सत्वशील तुम सुनके आये नाम रूप अविनासी।।
गावत लोक बड़ाई बहुत तुम्हारी भाई।।।

खुले तन से डारो भोजन इतनी आस हमारी।
त्रिभुवन मौ सब निसिदिन गावत निर्मल करत तुम्हारी।।

श्री दत्त भक्त रहस्य के मराठी ग्रन्थ में भी कहीं-कहीं हिन्दी की पक्तियाँ मिलती हैं, जैसे--

कृष्णा तट निकट वृक्ष छाया तले, हरिहर अवतार जग को उधारे।
गोपाल कृष्ण के दास के सीस पर, हाथ धरिये महाराज मेरे।
दत्त गुरू हम गुरू दत्त गुरू सुमर ले, और कुछ अंत तेरे नहि आवे मना।।

(भाग--१-३)

गुजरात, राजस्थान, मत्स्य देश, हरियाणा, हिमांचल, पंजाब आदि में और सुदूर नीमाड़ तथा मालवा में यदि पुराने समय की हिन्दी कविता का बानगी देने लगूँ तो इस भाषण का कलेवर बहुत बढ़ जायेगा और आप ऊब जाँयेगे। ब्रजभाषा का विस्तार कहाँ-कहाँ और कितना था यह एक स्वतंत्र विषय है। अतएव मैं इस समय इतना ही कहके संतोष कर लेता हूँ कि मध्यकाल अर्थात् मुसलमानों के राज्यकाल में साहित्यिक भाषा के रूप में हिन्दी सारे उत्तर भारत में फैल गई थी और उसकी ब्रजभाषा शैली उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गयी थी। उसमें साहित्य निर्माण किया ही नहीं जाता था, प्रत्युत विभिन्न प्रान्तों के लोग उसमें साहित्य निर्माण करना गौरव की बात समझते थे।

किन्तु इससे मूल प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। मैं यहाँ दखिनी हिन्दी की चर्चा नहीं करूँगा क्योंकि यह हमें बहुत अतीत में ले जायगा और स्वयं में यह उतना बड़ा विषय है कि यहाँ उसकी चर्चा नहीं हो

सकती। मैं इस समय अपने को ब्रजभाषा तक सीमित रखूँगा। वास्तव में मेरा मत है कि ब्रजभाषा के प्रचार और प्रसार का श्रेय प्रथमतः उसका गायन से संबंध होने के कारण, और बाद में उत्तर भारत के सन्त कवियों और महात्माओं के कारण हुआ। इनमें पूज्यपाद स्वामी वल्लभाचार्य प्रमुख हैं। उन्होंने पुष्टि मार्ग या वल्लभ सम्प्रदाय की स्थापना करके कृष्ण मत का उत्तर भारत में व्यापक प्रचार किया। मनोरंजक बात यह है कि वे आँध्र प्रदेश से आये थे। सारे देश में हिन्दी के व्यापक प्रचार के जो आन्दोलन हुए उनमें अधिकतर स्वामी वल्लभाचार्य, स्वामी दयानन्द, भूदेव मुखोपाध्याय, स्वामी ब्रह्मानन्द, महात्मा गांधी आदि तेलुगु, बंगला या गुजराती भाषी थे। कृष्ण की जन्म भूमि ब्रज की भाषा होने के कारण वह गुजरात से बंगाल तक फैल गई। गुजरात में तो उसका जितना प्रचार हुआ उतना अन्यत्र कहीं नहीं हुआ। वहाँसे अनेक गुजराती कवियों ने हिन्दी में लिखा। श्री चन्द्रप्रकाश सिंह और डा० माणिक लाल चतुर्वेदी ने इनके महान कृतित्व पर अपने अध्ययनों में काफी प्रकाश डाला है। कच्छ के महाराज ने तो २५० वर्ष पूर्व अपने यहाँ एक ब्रज-भाषा विद्यालय खोला था जो तब तक चलता रहा जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो गया। उसमें ५ वर्षों का पाठ्य क्रम था और परीक्षा के बाद सफल विद्यार्थियों को राज्य से प्रमाणपत्र मिलते थे। जब देश स्वतंत्र हुआ और सौराष्ट्र के राज्यों को विलय करके उन राज्यों को मिलाकर सौराष्ट्र राज्य बनाया गया तो उसके प्रधान मंत्री श्री ढेबर ने उस २५० वर्ष पुराने विद्यालय को अनावश्यक समझ कर बन्द कर दिया। जब हमें यह मालूम हुआ तब गुजरात राज्य बन गया था और सौराष्ट्र उसमें विलीन हो गया था। मैंने तत्कालीन मुख्य मंत्री डा० जीवराज मेहता से पत्र द्वारा उसे पुर्नजीवित करने का निवेदन किया था। मेरे पत्र की पहुँच भी उन्होंने कृपा कर मुझे भेजी जिसमें उन्होंने उस पर विचार करने को लिखा था। परन्तु वह उसके शीघ्र बाद ही हट गये और वह ब्रजभाषा विद्यालय पुराने राज्यों और राजाओं की प्रीवी पर्सों की तरह सदा के लिए समाप्त हो गया।

ब्रजभाषा में गान लिखने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी किन्तु ग्वालियर नरेश महाराज मानसिंह तोमर के समय तक जो संगीत चलता था वह मार्गी कहलाता था, और वह संगीत संस्कृत श्लोकों और पदों के गाने के लिए बना था और उनके उपयुक्त था। वह इस देश में न मालूम कब से चला आ रहा था। साम गान की प्रणाली परिष्कृत संस्कृत के लिए अनुपयुक्त थी, इस कारण मार्गी संगीत का जन्म हुआ था। ग्वालियर के महाराज मानसिंह तोमर महान कला प्रेमी थे। उनको नायक बनाकर वृन्दावन लाल वर्मा ने अपना प्रसिद्ध और सफल उपन्यास "मृगनयनी" लिखा है। वे उस समय हुए जब दिल्ली में लोदी वंश का राज्य था, और उन्हें कई बार सिकंदर लोदी के हमलों से बचने के लिए लड़ना पड़ा था। तब तक हिंदी में गीत रचना होने लगी थी। उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दी के पद या गीत मार्गी संगीत में ठीक तरह से नहीं गाये जा सकते। छंद और गायन भाषा के गठन के अनुसार होते हैं। संस्कृत में दोहा घनाक्षरी, छप्पय कुंडलियाँ, या अंग्रेज़ी में होली या रसिया नहीं लिखे या गाये जा सकते हैं। मार्गी संगीत, जो संस्कृत पदों के लिए आविष्कृत हुआ था और हिंदी पदों के लिए अनुपयुक्त था, उससे हिन्दी गायकी को मुक्त करने के लिए उन्होंने हिन्दी पदों के गायन के लिए एक नये संगीत का आविष्कार किया जिसे ध्रुपद कहते हैं। विष्णुपद और डागर भी इसीके भेद हैं पर उन पर कुछ कहना यहाँ असंगत है। उस समय और उनके बाद ग्वालियर से बाहर भी अनेक गायक थे जो ध्रुपद गाते थे। अतएव बहुत शीघ्र ही ध्रुपद गायन प्रणाली संगीतज्ञों और उनके शिष्यों द्वारा सारे उत्तर भारत में फैल गई। स्वामी हरिदास और तानसेन ने (जो अकबर के समय में थे) इस संगीत को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। फकीरुल्ला औरंगजेब के समय में उसका कश्मीर का सूबेदार था। उसने संगीत पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'मान कुतूहल' फारसी भाषा में लिखा है जिसका अनुवाद मेरे मित्र श्री हरिहर निवास द्विवेदी ने किया है। उस समय मैं मध्य भारत में शिक्षा संचालक था। उन्होंने मुझसे उसकी भूमिका लिखवा कर मेरा गौरव बढ़ाया

था। फकीरुल्ला ने मानसिंह और ध्रुपद के संबंध में लिखा है—

"मार्गी भारत में तब तक प्रचलित रहा जब तक कि ध्रुपद का जन्म नहीं हुआ था। कहते हैं कि राजा मानसिंह ने उसे पहली बार गाया था जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है। इसमें चार पक्तियाँ होती हैं और सभी रसों में बांधा जाता है। नायक मन्नू, नायक बख्शू, और सिंह जैसा नाद करने वाला महमूद तथा नायक कर्ण ने ध्रुपद को इस प्रकार गाया कि पुराने गीत फीके पड़ गये। इसके दो कारण थे। पहला यह कि ध्रुवपद देशी भाषा में देश का गीत था तथा मार्गी में संस्कृत थी। इसीलिए मार्गी पीछे हट गया। दूसरा कारण यह था कि मार्गी एक शुद्ध राग था और ध्रुपद में सब रागों का थोड़ा थोड़ा लिया गया है।"

मानसिंह, बैजू, गोपाल और तानसेन के ध्रुपदों की भाषा के नमूनों के लिए ध्रुपदों की कुछ पक्तियाँ आपके समक्ष प्रतुत कर रहा हूँ:—

१—महादेव आदिदेव देवादिदेव महेश्वर ईश्वर हर
नीलकंठ गिरिजापति कैलासवासी शिवशंकर भोलानाथ गंगाधर,
रूप बहुरूप भयानक बाघंबर भवर खप्पर त्रिशूलधर
तानसेन के प्रभु दीजै नादविद्या संगीत सो गाऊ बजाऊँ वीना कर

२—दिल्लीपति नरेन्द्र सिकंदरसाह जाके डर धरणी हिलहिलायो
दलशाह महिला अपार अगाध जहाँ गुणीजन विद्या तंहं किश्त बायो
नाद विद्या गावे सुनि आलम धावै दान दुनी से तुमही अवतार भायो
कहत नायक गोपाल चिरंजीव रहो पादसाह गहन ते साथ मृग धायो

३—बादर झूमि झूमि आये बरन बरन बरसन प्रान प्यारे
सुनि सुनि घनघोर चातक चकोर मोर बोलत सुहाये नंददुलारे

तैसेई बन कुंज केलि बिहरत भुजबंद मेलि अनुरागे जागे दोउ रूप उजारे

सखिजन बलिहार लेत रूप नैन बिहारी सोहे सूहे बसन हसन नैनवारे

किन्तु वास्तव में ब्रजभाषा संगीत का प्रचार जनता में तब हुआ जब स्वामी हरिदास, सूरदास, कुभंनदास, चंद्रसखी, नारायणस्वामी, भगवत रसिक आदि के पद मंदिरों में और धर्म प्रेमी अपार जनता के घरों में गाये जाने लगे। ये नायक कलाकार दरबारी थे, और सुल्तानों, राजाओं और सामन्तों के दरबारों में रहते थे। उनका प्रभाव जनता पर कम पड़ा, किन्तु संत और भक्त कवियों का संगीत जंगल की आग की तरह सारे उत्तर भारत में फैल गया। यहाँ तक कि बंगाल में भी वैष्णव ब्रज की भाषा को कृष्ण जन्म स्थान की होने के कारण पवित्र मानते और उसके अपभ्रंश बंगाली रूप को 'ब्रजबुली' कहते थे। गोविन्द दास आदि कितने ही पुराने बंगाली वैष्णव कवियों ने इसी ब्रजभाषानुमा ब्रजबुली में पदों की रचना करके उनका प्रचार किया था।

अब उन कोरे कवियों को लीजिये जिन्होंने ब्रजभाषा काव्य को समृद्ध तो किया किन्तु जो कविता-जीवी थे और जीवन-यापन के लिए धन प्राप्ति के उद्देश्य से बादशाहों, राजाओं या सामन्तों की दरबारदारी करते थे। ऐसा कवि शक्ति का उपासक है। वह अकबर को 'दिल्लीश्वरों वा जगदीश्वरोवा' कह सकता था। जब शक्ति सामन्तों के हाथ में आयी तो वह छोटे-छोटे जमीदारों को भी 'महाराजाधिराज', 'जग प्रतिपालक' कहने में नहीं हिचकिचाता था, और अब जब शक्ति जनता के हाथ में आ गयी है तब वह नेताओं और जनता के गुणगान करता है। क्या इधर ५०-६० वर्षों से पहिले इस देश में दरिद्रता या दीनावस्था नहीं थी? जहाँ एक मुट्ठी अन्न का दान बड़ा पुण्य का काम माना जाता हो, और जहाँ उस मुट्ठी भर अन्न लेने के लिए लोग बड़ी संख्या में लालायित रहते हों, उसकी दरिद्रता का और प्रमाण क्या चाहिए? जब मैं सुनता हूँ कि

इस देश में कभी घी और दूध की नदियाँ बहती थीं तब मुझे वह कवियों की अतिशयोक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं मालूम होता। वास्तव में सुदामा ही इस प्राचीन देश का सच्चा प्रतिनिधि था। किन्तु तब जनता में शक्ति नहीं थी, इसलिए उस समय 'तेरी हड्डी पर किसान' के समान कविताएँ नहीं के बराबर लिखी जाती थीं। उस समय अकबर और दूसरे बादशाहों की प्रशंसा में कितने ही दर-बारी कवियों ने ज़मीन और आसमान के कुलावे मिला दिये थे। कहा जाता है कि उस समय श्रीधर नामक एक कवि भी थे जो हृदय से सन्त थे। यह नहीं कहा जा सकता कि ये अकबर के दरबार में थे। उस समय एक समस्या दी गयी थी—'करौ मिलि आस अकब्बर की'। इस कवि ने इसकी उस युग में इस तरह पूर्ति की :

अबके सुलतान भए फुहियान जो बाँधहिं पाग अटव्बर की
नरकी नर की कविता जो करै तेहि काटहु जीभ सो लव्बर की
इक श्रीधर आस है श्रीधर की, नहि त्रास है कैसे हू जव्बर की
जिन्हें काहू की आस न है जग में सो करौं मिलि आस अकव्बर की।।

कुंभनदास की यह कथा तो सर्वविदित है कि एक बार अकबर ने उन्हें फतेहपुर सीकरी बुलाया। बेचारे सीधे सादे संत को जाना पड़ा। लौट कर उन्होंने लिखा :

संतन कों सीकरी सों कहा काम ?
आवत जात पन्हैया टूटीं, बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखें पाप लगत है, ताकौं करिबे परी सलाम।

स्वामी हरिदास ऐसे संत को तो अकबर को भी बुलाने का साहस नहीं हुआ। किन्तु ये सब निस्पृह संत थे और शक्ति के उपासक न थे। ऐसी ही और कितनी कथाएँ जनश्रुति पर आधारित हैं, किन्तु भूषण ने ललकारे जाने पर जिस तेजस्विता से औरंगजेब को भरे दरबार में खरी खरी बातें सुनायी थीं, और जिसके कारण उन्हें शाही दरबार छोड़ना पड़ा, और बाद में वे शिवाजी के दरबार में गये, यह प्रसंग आप लोग जानते ही हैं।

ब्रजभाषा काव्य पर श्रृङ्गारिक होने का आरोप लगाया जाता है। यह श्रृङ्गार विशेषकर दरबारी कविता में भी मिलता है, और विरक्त वैष्णव भक्त कवियों के पदों में भी वह कहीं-कहीं पाया जाता है। दोनों के कारण भिन्न हैं। जिस समय आधुनिक काल आरम्भ हुआ उस समय हिन्दी में केवल ब्रजभाषा की कविता चलती थी। स्कूलों के संग्रहों में रामायण के कुछ अंशों के साथ वही रहती थी। वे ब्रजभाषा की कविताएँ प्रायः नीतिपरक होती थीं। जैसे लल्लू लाल द्वारा नीति दोहा आदि की प्रसिद्ध संकलन जिनका नाम 'सभा विलास' था। किन्तु जनता में देव, पद्माकर, बिहारी, मतिराम, केशव आदि की कविताएँ लोकप्रिय थीं जो श्रृङ्गार-प्रधान थीं। उस समय की जनरुचि कैसी थी वह हफीबुल्ला खां से हज़ारा, शिव सिंह सरोज के संकलन आदि से जानी जा सकती है। मेरे संग्रह में प्रायः ५०० छंदों का एक ऐसा ही संग्रह है जिनमें प्रायः ८०-९० ज्ञात और अज्ञात कवियों के छंद हैं जिनमें श्रृङ्गार ही श्रृङ्गार और कहीं कहीं तो उत्तान श्रृङ्गार भी है। प्रश्न यह है कि लौकिक कवियों की ब्रजभाषा की कविता में श्रृङ्गार की यह प्रधानता कैसे आई? पुनरुक्ति को दोष समझते हुए भी मैं फिर यह कहूँगा कि दरबारी कवि तो श्रृङ्गारी कविता करने को विवश थे क्योंकि अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल उन्हें प्रसन्न करने के लिए उन्हें उन फारसी के कवियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती थी जिनकी कविता श्रृङ्गार से ओत-प्रोत हैं। फारसी संस्कृति में रंगे होने के कारण बादशाहों, नवाबों और अन्य सामन्तों की रुचि वैसी ही कविता की हो गयी थी। हिन्दी के दरबारी कवि फारसी की श्रृङ्गारिकता, नाजुक खयाली, अतिशयोक्ति आदि से टक्कर लेने के लिए हिन्दी में भी वैसी ही कविता करने लगे। वहाँ और किसी विषय पर कविता करने का अवकाश ही न था। अवश्य कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की युद्धकुशलता, वीरता और युद्धों के वर्णन में कुछ काव्य रचे, किन्तु वे संख्या में बहुत कम, और अतिशयोक्ति से पूर्ण होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व के नहीं थे। देव, पद्माकर आदि ने सामन्त कवि होते हुए भी कुछ शान्त रस के छन्द लिखे, किन्तु वे स्वान्तः

सुखाय थे। अतएव दरबारी कवियों की कविता की शृङ्गारिकता का कारण परिस्थिति की विवशता थी। फारसी कविता के सूफियानी अर्थ भी लगाए जाते थे और इश्क मजाज़ी (सांसारिक प्रेम) की व्याख्या इश्क हक़ीक़ी (ईश्वर प्रेम) के रूप में की जाती थी। कुछ सूफियों का तो कहना यह भी था कि बिना सांसारिक प्रेम किये ईश्वर प्रेम किया ही नहीं जा सकता। इस संबंध में यह शेर प्रस्तुत किया जा सकता है:

> गर हक़ीकी इश्क चाहे, कर मजाज़ी इश्क तो,
> उसमें कोई क्या चढ़े जीना न हो जिस बाम का।

अर्थात् सांसारिक प्रेम की अनुभूति ईश्वर प्रेम रूपी ऊपर की मंजिल पर जाने की सीढ़ी है। हिन्दी के शृङ्गारिक कवियों ने इश्क मजाज़ी और इश्क हक़ीक़ी का झगड़ा राधा कृष्ण के प्रेम का आलम्बन लेकर दूर कर दिया। राधाकृष्ण के प्रेम का वर्णन संसारी अर्थ में भी लिया जाता था और राधा कृष्ण से संबंधित होने के कारण उसका आध्यात्मिक मांगलीकरण भी किया जा सकता था अर्थात इश्क मजाज़ी की व्याख्या इश्क हक़ीक़ी के ढंग पर भी की जा सकती थी। उन दिनों 'डाक्टर' बनने का रोग नहीं चला था, पर मनुष्य स्वभाव तो सदा एक सा ही बना रहता है। कुछ संस्कृतज्ञ हिन्दी कवियों में (जैसे केशवदास में) प्राचीन आचार्यों का अनुकरण कर "आचार्य" बनने का उच्चभिलाषा उत्पन्न हुई, और वे हिन्दी के रीति ग्रन्थ लिखने लगे। इनमें छंद अलंकार के अतिरिक्त नखशिख, नायिका भेद आदि के विषय भी होते थे और नायक नायिकाओं के अच्छे बुरे उदाहरण देने के लिए कभी कभी घोर शृङ्गारिक छंद भी लिखे जाने लगे। दुर्भाग्य से इन छन्दों ने उस समय के असंस्कृत या अर्ध-संस्कृत लोगों में उसी तरह लोकप्रियता प्राप्त कर ली जैसी आजकल के सिनेमा के गीतों ने, और पिछली शती के अन्त की शृङ्गारिक गजलों ने। नये युग में जब अंग्रेज़ी के प्रभाव और अति-शुद्धताबाद के आन्दोलन से शिक्षित लोगों की रुचि बदली तो ब्रज-भाषा काव्य पर शृङ्गारिकता का दोष लगाया जाने लगा।

वैष्णव कवियों के लीला के उन पदों में भी शृङ्गारिकता थी जो राधा कृष्ण के प्रेम से संबंधित थे। सूरदास जो लीलापद गायकों में प्रमुख हैं, ईश्वर को निराकार, अलख, अरूप मानते हैं, किन्तु उन्होंने फिर भी लीला के पद गाने का कारण बतलाते हुए सूरसागर के आरम्भ ही में भूमिका के रूप में कहा है :

अविगत-गति कछु कहत न आवै,
ज्यो गूंगो मीठे फल कौ रस अन्तरगत ही पावै,
परम स्वाद सब ही जु निरंतर अमित तोष उपजावै,
मन वानी कों अगम अगोचर, सो जानै जो पावै,
रूप रेख गुनजाति जुगति बिन निरालम्ब मन चक्रत धावै,
सब विधि अगम विचारिह तातें सूर सगुन लीला पद गावै।

श्रीमद् भागवत से भगवान कृष्ण की लीलाओं का आरम्भ माना जा सकता है। हिन्दी के वैष्णव कवियों में से किसी ने बाल रूप में, किसी ने सख्य भाव से, किसी ने मधुर भक्ति से उनकी लीलाओं का वर्णन किया है। हमारे पास स्वामी हरिदास और हितहरि वंश की वाणियों का एक प्राचीन संग्रह है जिसमें मधुर भक्ति के पद संकलित हैं। इसके आरम्भ में लिखा है "रहस्य के पद" अर्थात् वे सर्वसाधारण के लिए नहीं, केवल उन लोगों के लिए थे जो मधुर भक्ति के कारण भगवान की लीलाओं के रहस्य को आध्यात्मिक दृष्टि से देखते थे। हमारे एक बड़े आदरणीय विद्वान मित्र को, जो दिवंगत हो गये हैं, जयदेव के "गीत गोविन्द" के नाम से घोर चिढ़ थी। वे उसे अत्यन्त शृङ्गारिक ही नहीं, अश्लील भी मानते थे। एक बार संयोग से मुझे आर्नल्ड का गीत गोविन्द का अंग्रेज़ी अनुवाद पढ़ने को मिल गया। उसे पढ़ते समय मुझे न कहीं शृङ्गारिकता मालूम हुई और न अश्लीलता। आर्नल्ड ने उसकी आध्यात्मिक आत्मा को पकड़ लिया था। इन मधुर भक्ति के पदों के समालोचकों को दृष्टि में रखते हुए भगवत रसिक ने कहा था :

यह रस रीति प्रिया प्रीतम की विमल स्वाँति जल जैसे।
विषयी, त्यागी, भक्त, उपासक प्रापत तिनकों तैसे।

कदली, कमल, पपीहा, सीपी पात्र भेद गुण जैसे।
'भगवत' बीज-विषमता नाहीं, भूमि भाग्य फल तैसे।

किन्तु साधारण लोगों के लिए, विशेषकर उनके लिए जो वैष्णव नहीं थे, मधुर भक्ति का आध्यात्मिक रूप समझना अत्यन्त कठिन था। इसीलिए जब पाश्चात्य संस्कृति और साहित्य का प्रभाव इस देश में बढ़ा, ईसाई मिशनरियों ने अपने लगातार प्रच्छन्न, प्रत्यक्ष और चतुरतापूर्ण प्रचार से हमारी मानसिकता बदल दी, तथा आर्य समाज तथा वेदान्तियों के 'अतिशुद्धतावाद' ने जोर पकड़ा तब हिन्दी के अनेक मनीषी और कवि ब्रजभाषा काव्य के इसकी शृङ्गारिक कविताओं के कारण विरोधी हो गये। पं० सुमित्रा नन्दन पंत ने अपने पल्लव की भूमिका में ब्रज के उन महात्मा कवियों की अच्छी खासी मरम्मत की जिनका मेरी तरह के हिन्दू आज भी श्रद्धा और आदर करते हैं तथा जिन्हें त्यागी महात्मा समझते हैं। आज उनके क्या विचार हैं, यह नहीं मालूम क्योंकि वे रवीन्द्र के मानवतावाद, अरविंद के अध्यात्मवाद और मार्क्स के भौतिकवाद तथा हवाई प्रेम या प्रेमिल प्रेम के (यदि स्थूल प्रेम के नहीं) मनोरंजक और आदर्श मिश्रण या Cocktail हैं। उन्होंने स्वयं शृङ्गारिक कविताएँ लिखीं जो उनकी छायावादी कविताओं में अनेक स्थलों में मिलती हैं, किन्तु वे इतनी अद्भुत हैं कि उनके इश्क हक़ीकी और इश्क मज़ाजी में भेद करना कठिन है। उनकी प्रेयसी प्रकृति का रूप लेकर आती है और बादल की तरह दीखती हुई पकड़ में नहीं आती। हाँ, जब वे प्रेयसी को सम्बोधित करते हैं तो शृङ्गारिकता स्पष्ट हो जाती है। तथापि यह मानना पड़ेगा कि वह युग के अनुकूल अत्यन्त संयत हैं। आर्यसमाजियों को तो सिद्धान्त रूप से उस सभी साहित्य से—चाहे रामायण हो चाहे सूरसागर—से विरोध था जो अवतार-वाद, मूर्ति पूजा आदि का समर्थक था और जो अतिशुद्धतावादी होने के कारण शृङ्गार का घोर विरोधी था। उसका अतिशुद्धतावाद और बुद्धिवाद इतना बढ़ा हुआ था कि आर्य समाज ने अपने अनुयायियों के हृदय के रस को सुखा दिया था। शायद इसलिए कोई सच्चा आर्य समाजी इस युग में अच्छा कवि नहीं हुआ क्योंकि रस ही कविता

की जान है और उसे उनके बुद्धिवाद ने सुखा दिया था। उनमें जो एक प्रतिभावान कवि श्री नाथूराम शंकर शर्मा हुए, उन्होंने अधिकतर उपदेशपरक या प्रचारात्मक कविताएँ लिखीं और कई छोटे मोटे काव्य लिखे जिनमें से एक का नाम था 'गर्भ रंडा रहस्य'। इसीसे आप उनके भाषा-सौष्ठव और भाषा-चेतना का अनुमान कर सकते हैं। सरस्वती में रवि वर्मा के चित्रों पर उन्होंने कुछ रससिक्त कविताएँ अवश्य लिखीं, किन्तु वे अपवाद हैं। शिक्षित वर्ग में अंग्रेज़ी काव्य के अध्ययन के प्रचार होने पर इनकी रुचि पाश्चात्य हो गयी और उन्हें हिन्दी की पुरानी कविताएँ पसन्द ही नहीं थीं। वे सब ब्रजभाषा में थीं। इसीलिए सारे ब्रजभाषा काव्य से वे विरक्त हो गये। नये युग में नये ढंग की युगानुकूल कविता की माँग होने लगी। यह स्वाभाविक और परिस्थिति के कारण अनिवार्य था।

एक दूसरा वर्ग था जो ब्रजभाषा की विषय वस्तु से अज्ञात या निरपेक्ष या उदासीन था। किन्तु उसे यह बात अजीब मालूम होती थी कि हिन्दी में गद्य की भाषा एक हो और पद्य की दूसरी। अनेक दृष्टियों से यह भेद अवांछनीय था और अंतः सलिला फल्गू की जलधारा के समान इस पर बहुत से हिन्दी प्रेमी मौन रूप से विचार कर रहे थे। किन्तु इस आन्दोलन को रूप देने का काम मुजफ्फरपुर बिहार के अयोध्या प्रसाद खत्री ने किया। सभी अति उत्साही मिशनरी भावना से प्रेरित लोगों की तरह उन्होंने ब्रजभाषा के विरुद्ध जेहाद बोल दिया। वे उसे गवाँरू बोली कहते थे। किन्तु इस आन्दोलन का कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ। इनके आन्दोलन के बावजूद जब नागरी प्रचारिणी सभा के भवन का उद्घाटन तत्कालीन छोटे लाट सर जेम्स डिगिस लाटूश ने किया तो उनका स्वागत पंडित सुधाकर द्विवेदी ने ब्रजभाषा कविता से किया था। जब सभा के सामने कविता की भाषा का प्रश्न आया तब उसने ब्रजभाषा की कविता के विरुद्ध कुछ नहीं कहा किन्तु साथ ही यह भी कहा कि खड़ी बोली कविता को प्रोत्साहन दिया जाय।

किन्तु दो बातें विशेष रूप से याद रखने की हैं। पहली बात तो

यह है कि सिवाय पं० राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र के मेरी जान में किसी ब्रजभाषा कवि ने खड़ी बोली कविता का विरोध नहीं किया। अंबिकादत्त व्यास, किशोरीलाल गोस्वामी, मधुसूदन गोस्वामी आदि कितने ही ब्रजभाषा के कवि खड़ी बोली में भी कविता करते थे। वे ब्रजभाषा को कविता के लिए अधिक उपयुक्त और मधुर समझते थे, पर उन्होंने खड़ी बोली में कविता का विरोध नहीं किया। पं० प्रतापनारायण मिश्र तो ब्रजभाषा ही को कविता के लिए अधिक उपयुक्त समझते थे। दूसरी बात याद रखने की यह है कि ब्रजभाषा ने समय के अनुसार अपने विषयों को बदलना आरम्भ कर दिया था। उसमें हिन्दी की विशिष्ट धाराओं—अतीत के गौरव गान, भारत की एकता और विदेशी शोषण के विरुद्ध आवाज़ ही नहीं कुछ इससे भी आगे की आकांक्षाओं के अंकुर प्रकट होने लगे थे। लड़कपन में मैंने एक छन्द सुना था जो मुझे अभी तक याद है:

आई अंगरेजी जरखेज़ी गयी राजन की,
चलत चहूँधाँ बड़ी नई नई डहरें
कुंजन कलित वन ललित बिलाने किते
गिरि गढ़ कोटन पै बिलाती ध्वजा फहरें।
कहै चिरजीवी कैसे धरौं उर धीर बीर,
त्रिविध समीर ये करेजे बीच लहरें
कटि गये नर्कट, कपास सत्यानास भई
ऊख गये उखरि, उखारि गयीं रहरें।

देश में विलायती ध्वजा (यूनियन जैक) को फहराते देखकर, जंगलों के कटने, लंकाशायर की मिलों से कपड़े आने से बुनकरों के व्यवसाय के बिगड़ने के कारण कपास की उपज की कमी और जावा की चीनी आने से गन्ने की पैदावार कम हो जाने से हृदय में जो पीड़ा थी, उसका इस छंद में सरल भाषा में वर्णन है।

स्वयं भारतेन्दु भी जो अंग्रेज़ी राज्य के प्रशंसक थे। जैसा कि मैं बता चुका हूँ, उसने हिन्दुओं को मुसलमानों के समान अधिकार दिये तथा वाक् और धार्मिक स्वतंत्रता दी थी। उन्होंने महारानी

विक्टोरिया के पौत्र प्रिंस फ्रेडरिक के आगमन पर उनके स्वागत में लम्बी कविता लिखी थी। वे भी अंग्रेज़ों द्वारा देश के शोषण को नज़रअन्दाज़ नहीं कर सके। उन्होंने लिखा था:

अंग्रेज़ राज सुख-साज सबै विधि भारी
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

वे अंग्रेज़ों के जितने तीखे आलोचक थे, यह खड़ीबोली गद्य के भाग में बतला चुका हूँ। भारतेन्दु की ब्रजभाषा की कृतियाँ इतनी प्रसिद्ध हैं कि उनके बारे में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

प्रतापनारायण मिश्र उस युग के एक दूसरे ब्रजभाषा के कवि थे जिनमें उद्दाम देशप्रेम, स्पष्टवादिता और आलोचक की तीव्र दृष्टि थी। यद्यपि वे भी अंग्रेज़ों के प्रशंसक थे और उन्होंने महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा में शायद उनकी डायमण्ड जुबली के अवसर पर जो छंद लिखे थे उनमें एक पंक्ति थी:

पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीवी रहौ विकटोरिया रानी!

तथापि प्रिन्स फ्रेडरिक (विक्टोरिया के पौत्र) के स्वागत में उन्होंने लिखा था:

सजि सजि भूषन बसन जो आवहिं निकट तुम्हारे,
वे भारत की सत्य दशा न दिखावहिं प्यारे,
निज स्वारथ हित ठकुरसुहाती बात बनावहिं,
कछु कौ कछु दरसाय तुम्हें साँचहिं फुसलावहिं।
बहुतेरे जन द्वार द्वार मंगन बनि डोलहिं,
तनिक नाज हित दीन बचन जेहि-तेहितें बोलहिं,
बहुत लोग परदेस भागि, अरु भागि न सकहीं,
चोरी चंडाली करि बन्दीगृह पथ तकहीं।

पेट अधम अनगिनतन अकरम करम करावत
दारिद दुरगुन पुंज अमित उरपुर उपजावत,
सो दारिद नित रहत देस कहं दस दिसि घेरे।
हैं माटी के चूल्ह यहाँ घर मैं सब केरे।

तिहि पर दुसह दुकाल रहत नित सिर पर ठाढ़्यो
प्रजापुंज बिन मीच मरत पेटागिन दाढ़्यो।
दिन दिन दूनी दीन दसा ह्यांके लोगन की,
देखत छाती फटत, सकत नहिं रहति बचन की।

वे लोगों की इस दीन दशा का हृदयद्रावक वर्णन अधिक नहीं करते और प्रिंस से कहते हैं :

भली होय, तुम भली भाँति भारत न निहारौ,
बालक हौ, जनि सहमि जाय कहुँ हृदय तुम्हारौ,
हाँ, जु कबहुँ तुम्हरी दादी, हमरी महरानी,
इत आवहिं अरु सुनहिं दुखित-मुख कातर बानी।

(किन्तु) वे बैठी हैं उहाँ, इहाँ हमारी यह अस गति है,
दुख हू रोवत कबहुँ कबहुँ भय लागत अति है,
यह जिय धरकत, अस न होहि कहुँ कोऊ सुनि लेई,
कछू दोष दै मारहि, अरु रोवन नहिं देई।

किन्तु जब १८९५ में पार्लियामेण्ट के प्रगतिशील और भारत-हितैषी सदस्य चार्ल्स ब्राडला भारत आये तब उन्होंने और अधिक स्पष्ट भाषा में अपने विचार व्यक्त किये :

तब लखिहौ जँहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत,
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ कहँ तरसत,
जहँ आमन की गुठली अरु बिरछन की छालें,
ज्वार-चून मँहँ मेलि लोग परिवारहि पालैं।

लोन, तेल, लकड़ी, घासहु पर टिकस लगत जहँ,
चना चिरौंजी-मोल मिलत जँहँ दीन प्रजा कहँ,
जहाँ कृषी, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब माँहीं,
देशिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसेहु नाहीं।

कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जँहँ ऋन भारन,
तँहँ तिनकी धन-कथा कौन, जो गृही सधारन?

जंहं महीपगन रजीडंट सों यह डर डरहीं
अस न होय कहुं तनिक रूठि, धन-धामहिं हरहीं।

तंहँ साधारन लोगन की तो कहा चलाई?
नित घेरे ही रहत दुसह दारिद दुचिताई
यह कर केवल एक हेत जो नए नए नित
कर अरु चन्दा देन परैं प्रति प्रजहि अपरिमित।

इसके बाद उन्होंने तत्कालीन प्रशासन और प्रशासकों के संबंध में कुछ स्पष्टोक्तियाँ कहीं। उनकी तुलना आज की दशा से करना बड़ा मनोरंजक होगा। प्रशासकों के संबंध में वे कहते हैं :

जे अनुशासन करन हेत इत पठए जाँहीं,
ते बहुधा बिन काज प्रजा सों मिलत लजाहीं।
तनिकहु भोग विलास माँहिं त्रुटि करन न चहहीं,
नेकहि ग्रीषम लखहिं, पर्वतन कर पथ तकहीं।

अंग्रेजों के प्रति पक्षपात के संबंध में वे कहते हैं :

गौर स्याम रंग भेद भाव अस दस दिसि छायौ,
जिहि नेटिव नामहि कों तुच्छ प्रतच्छ दिखायौ,
वे बध हू करि कबहुँ कबहुँ कोरे बचि जाहीं,
पै ये कहुँ कहुँ लकुट लेत हूँ धमकी खाँहीं।

अब प्रशासन के संबंध में सुनिए :

चलत जिते कानून इहाँ उनकी गति न्यारी।
जस चाहहिं तस फेरि सकहिं तिन कहँ अधिकारी,
बड़े बड़े बारिस्टर बहुधा बकि बकि हारैं,
पै शासकजन जस जिय चाहैं तस करि डारैं।

निर्धन, निश्छल, निस्सहाय कर कहुँ न निबाहू,
धनिक चलाक सपच्छ पुरुष पावहिं जय लाहू।
प्रजा न जानहि कौन इकट केहि हेत बन्यौ कब
पै यह अचरज तेहि बंधन महँ कसे रहहिं सब।

समय परे सब खोय मान, धन दण्ड सहैं हैं,
पर बाहर के काज छाँड़ि दौरतहि रहैं हैं
अस अद्भुत आईन, जहाँ अनुशासक ऐसे,
तहँ शासित समुदाय कहौ किमि निबहै कैसे ?

पक्षपात की यह दशा थी :

केवल जो हाकिम लोगन के अहैं सजाती,
अथवा उनकी करैं सबिधि सेवा दिन राती,

तेई सुख सुख्याति सुपद लहि स्वारथ साधैं,
औरन कों तौ लगी रहैं बहुधा ही व्याधैं,
जे विद्या अरु गुन सीखत बहु वर्ष बितावैं,
बिना सिपारिस वेहु नौकरी उचित न पावैं।

जे सब भांति दरिद्र दलित, उकसन नहि पावैं,
तिन कहँ फिरि फिर दुख दुकाल दुरदसा सतावैं,
निज तन रक्षा हित जिन हाथ हथियारहु नाहीं
लूटि लेहिं घर चोर चहैं जब जहिं निसि माहीं
अस असमय लहि जाहिं पुलिस दिसि जे सरनाई
तिन औरहुं निज कोढ़ माँहिं जनु खाजि बढ़ाई।
चोरी चोर डकैत पता कब कौन लगावै ?
उलटी धन के स्वामी पर आपद इक आवै।
तासु परौसी इष्ट मित्रगण चासे जाहीं,
विथित भए बिन, भेट दिए बिन, छूटत नाहीं,
जेहि अरिष्ट अन्याय दैव बस कबहुँ सतावत
सो धाए बिन, धन खरचे बिन, न्याय न पावत
कहा कहिय कहि जाय न ह्याँकी अकथ कथा है,
जब कबहूँ ऐहौ, रहिहौ, पैहौ तब थाहै।

१८९५ में विक्टोरिया के राज्य की संध्या में, जब भारत में अंग्रेज़ों के प्रताप का सूर्य मध्यान्ह की उँचाई पर पहुँचा हुआ था,

इस प्रकार की स्पष्ट बातें कहने के लिए कितनी निर्भीकता और साहस की आवश्यकता थी, यह आप स्वयं सोच सकते हैं। किन्तु यहाँ हमारा प्रयोजन इतना ही बतलाना है कि पुराने कवियों को अपनी पुरानी और देश भर में प्रचलित ब्रजभाषा में अपने आधुनिक भावों को व्यक्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती थी। संभव है, ब्रजभाषा से अनभिज्ञ आपमें से कुछ लोग इसकी भावाभिव्यक्ति और व्यंजना को समझने में कठिनाई अनुभव करें, किन्तु जो ब्रजभाषा जानते हैं, उन्हें इसे समझने और सराहने में कठिनाई न होगी।

मिश्रजी के काव्य में भी अतीत के महत्व की भावना, तत्कालीन हिन्दू जाति के अधःपतन का दर्द और हिन्दी-प्रेम समान रूप से परलक्षित होते थे। इसका एक सुन्दर उदाहरण उनका तृप्यन्ताम् है। हिन्दू लोग पितृपक्ष में पितरों को तर्पण करने के पहले देवताओं, ऋषियों, यम, चित्रगुप्त आदि को उनका नाम लेकर तथा उनके साथ तृप्यन्ताम् कहकर तिल और जल के साथ तर्पण करते हैं। उन्होंने इस व्यंग्यपूर्ण कविता में भी अतीत के गौरव और वर्तमान अधःपतन का मार्मिक चित्रण कर डाला है। नमूने की तरह इसके दो छंद यहाँ सुनाता हूँ। 'तृप्यन्ताम्' नामक कविता में वे कहते हैं :

केहि बिधि वैदिक कर्म होत कब, कहा बखानत ऋजु यक साम,
हय सपने हूँ में नहिं जानैं, रहैं पेट के बनै गुलाम,
तुमहिं लजावत जगत जनम धरि तिहुं लोकन मँहँ निपट निकाम,
कहैं कौन मुख लाय हाय! हम ब्रह्मा बाबा तृप्यन्ताम्।
सपने की सी कथा भई जब रह्यौ प्रजापति हमरो नाम,
अब तौ जौन प्रजापति हैं, सौऊ निरबल, निरवस, निपट निकाम
अब तो छुरिहुँ छुअत डर लागत, राजनियम-बस बनि गये बाम
अपनी करनी लखि कै कैसें कहैं प्रजापति तृप्यन्ताम्।

इसमें हिन्दू धर्म के अधःपतन तथा हिन्दू जनता की असहायता और कायरता पर व्यंग्य है। उन दिनों हिन्दी आन्दोलन उठ रहा था, किन्तु उस समय के कितने ही कायस्थ फ़ारसी पढ़ने, फ़ारसी लिखने और उर्दू के अभ्यस्त होने के कारण उर्दू के उसी प्रकार हिमायती थे

जिस प्रकार आज के युग में अंग्रेज़ी परस्त नौकरशाही है। उन दिनों कायस्थों में मद्य और मांस का सेवन मर्यादा के विरुद्ध नहीं समझा जाता था। बहुत से लोग उन्हें उर्दू-हिमायती समझते थे और शराब के संग उनको याद किया जाता था। इसी कारण उस समय इसी 'तृप्यन्ताम्' में मुंशी चितरगुपत वाला छंद लिखा गया था जिसे मैं सुना चुका हूँ। आज स्थिति एकदम भिन्न है। अब तो संस्कृत और हिन्दी पढ़ने वाले जितने कायस्थ हैं, शायद उतने ब्राह्मण नहीं हैं। अब उनमें मद्य और मांस का भी प्रचलन समाप्त प्राय है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दू पुर्नजागरण के उद्देश्य को पूरी तरह समझा। मैंने इस उद्देश्य का आरम्भ में संकेत किया है। अपनी एक कविता में इस पुर्नजागरण के सार को उन्होंने इस रूप में लिख दिया है:

चहहु जो साँचौ निज कल्यान,
तौ सब मिलि भारत सन्तान
जपौ निरन्तर एक जबान
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।

रीझै अथवा खिजै जहान,
मान होय चाहैं अपमान,
पै न तजौ रटिबे की बान,
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।

तबहिं सुधरिहै जनम निदान,
तबहिं भलौ करिहै भगवान,
जब रहिहै निसि दिन यह ध्यान,
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान।

इसीलिए मैं प्रतापनारायण मिश्र को उस युग का प्रतिनिधि कवि मानता हूँ। समग्र भारत को एक दृष्टि से देखने और उसकी सेवा करने, हिन्दी को अपनाने और उसे उचित स्थान देने तथा

समग्र हिन्दू जाति के उत्थान का जो ध्येय हिन्दू पुर्नजागरण का था, वह उनकी कविता में भली भाँति परिलक्षित होता है।

यह देशोत्थान की भावना उस समय हिन्दी भाषियों में कितनी व्यापक थी, इसका आज अनुमान लगाना भी कठिन है। हिन्दी लेखक या कवि ही नहीं, हिन्दी भाषी संस्कृत विद्वान भी उससे प्रेरित हुए। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पिछली शती के उत्तरार्द्ध में गोस्वामी गट्टूलालजी संस्कृत के एक अप्रतिम विद्वान थे। वे प्रज्ञाचक्षु और शतावधानी थे। श्रीमद्भागवत की कथा कहना उनका मुख्य कार्य था और वह उसे इतने मधुर और पांडित्यपूर्ण ढंग से कहते थे कि विद्वान और सामान्य जनता समान रूप से उनकी श्रीमद्भागवत की कथा सुनती थी। लोग अपार संख्या में उपस्थित होते थे। भागवत की व्याख्या सरल नहीं है। कहा भी है कि 'विद्यावतां भागवते परीक्षा।' उन्होंने अनेक ग्रन्थ संस्कृत में रचे जिनका विद्वन्मण्डली में बड़ा सम्मान हुआ। उनका 'वेदान्त चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ आज भी दर्शन शास्त्र के विद्यार्थियों द्वारा आदर से पढ़ा जाता है। वे तत्काल समस्या पूर्ति करते थे—समस्या चाहे जितनी ऐंड़ी-बेंड़ी हो। युवावस्था में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि नवनीतजी, जो स्वयं संस्कृतज्ञ थे, उनके पास बहुधा जाते थे। वे चौबे थे। चौबों का हास्य-बोध प्रसिद्ध है। एक बार उन्होंने हंसी हंसी में एक समस्या देकर गोस्वामीजी से उसकी पूर्ति करने को कहा। समस्या थी 'चन्द्रवत् महिषी मुखम्''। बिना एक पल रुके गट्टूलालजी ने उसकी पूर्ति में यह श्लोक बना कर सुना दिया :

> शुक्लाभिसारकायाः किम्, वर्ण्यताम् वदनद्युतिः
> यन्नियातामभून्मार्गे चन्द्रवत् महिषीमुखम्

उनकी विद्वता से प्रभावित होकर पंडितों ने उन्हें "भारत मार्तण्ड" की उपाधि दी थी। त्यागी इतने थे कि जो कुछ कमाया वह सब एक ट्रस्ट बनाकर संस्कृत की सेवा के लिए दे दिया जो अब भी बम्बई में काम कर रहा है। धार्मिक

प्रचारक होने, धर्म में अगाध विश्वास करने तथा सादे रहन-सहन, आचार विचार, पुरानेपन और रूढ़िवादी होने के कारण आजकल के लोगों की दृष्टि में वे 'पोंगा' ही कहे जायँगे। जब-कभी वे ब्रजभाषा में भी कविता करते थे। उनका दृष्टिकोण कितना विशाल और देश की समस्याओं के प्रति उनके विचार कैसे थे, वह उनकी एक ब्रज-भाषा की कविता से जाना जा सकता है। इस कविता में पहिले उन्होंने मनुष्यमात्र को सम्बोधन किया, फिर आर्य जाति अर्थात् हिन्दू जाति को और फिर चारों वर्णों को। उन्होंने इस कविता में क्या कहा, सुनिए :

मनुजो ! मन सत विनय धरौ।
आर्य ! करौ औदार्य कार्य करि, देश-उदय सिगरौ।
वेद पूरि पढ़ि, खेद दूरि करि, द्विज ! निज विजय करौ।
धर्मधुरा निर्धारि धारि धन, धीर धरनि उधरौ।
शास्त्र वस्त्र करि, शस्त्र अस्त्र धरि, भूप ! अनूप लरौ।
गाज गाज कुल लाज साज सजि, राज-साज संभरौ।
वैश्य वरन ! दुख हरन, करन सुख, धन भण्डार भरौ,
सार विचारत जलधि पार, व्यापार अपार तरौ।
शूद्र ! दाम गहि ग्राम धाम, बिसराम काम निबरौ,
यंत्र-कला-कुल सकल निराकुल, सीख भीख न परौ।
आर्य-भूमि में सकल सिद्धि-शुभ धन सम्पति पसरौ,
अमल कमल सम अरुण वरण हरि चरण शरण पकरौ।
गोवर्द्धन प्रभु मेघस्याम अभिराम न चित्त टरौ,
दरस परस सों बरस कृपा रस बरसहु, सरस करौ।

इस पोंगापंथी श्रीमद्भागवत के कथावाचक और दकियानूसी पंडित ने उस युग में ब्रजभाषा में मनुष्य मात्र से सत्य और विनय धारण करने के लिए कहा। हिन्दुओं से कहा कि "करौ देश उदय सिगरौ"—सर्वाङ्गीण देशोन्नति करो। ब्राह्मणों से कहा कि धर्म की धुरा बनाकर धरती का उद्धार करो। क्षत्रियों से कहा

कि शास्त्र भी पढ़ो और अस्त्र-शस्त्र अर्थात युद्ध कला में प्रवीण होकर राज-काज सम्हालो। वैश्यों से कहा "सार विचारत जलधिपार—व्यापार अपार तरौ।" विदेशों से व्यापार करके देश में धन लाओ—आधुनिक भाषा में कहेंगे Foreign Exchange अर्जित करो। शूद्रों से कहा, यंत्रकला में प्रवीण होकर ग्रामों की समृद्धि करो। पता नहीं कि आप लोग फिर भी उन्हें कितना दकियानूसी समझेंगे क्योंकि वे परम वैष्णव, कथावाचक और पुरातन-पंथी थे। कहने का तात्पर्य यह कि उस समय ब्रजभाषा में इस प्रकार के लोग भी देश की तत्कालीन अवस्था और आवश्यकताओं को समझते थे और उन्हें अपने ढंग से ब्रजभाषा में व्यक्त भी करते थे। ब्रजभाषा धीरे-धीरे मध्यकालीन परम्परावादी कविता की केंचुल उतार कर अपने को नवीन युग की आवश्यकताओं के अनुरूप बना रही थी, और यदि उसे स्वाभाविक विकास का अवसर मिलता तो वह आज की आवश्यकताओं, भावनाओं और वादों को उसी प्रकार सफलतापूर्वक व्यक्त कर सकती थी जिस प्रकार उर्दू, बंगला, गुजराती या नैपाली कर रही हैं।

ब्रजभाषा के उस युग के कितने ही अन्य कवियों के उदाहरण यह प्रमाणित करने के लिए दिए जा सकते हैं कि ब्रजभाषा की विषय-वस्तु बदल रही थी और वह अपनेको युग के अनुरूप बना रही थी। ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथदास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी तथा देवीप्रसाद पूर्ण आदि ने अनेक कविताएँ लिखीं जो अतीत के गौरव या तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं के संबंध में जनता में चेतना उत्पन्न करने के लिए लिखी गयी थीं। राजा लक्ष्मण-सिंह और पूर्णजी ने मेघदूत के ब्रजभाषा में अनुवाद कर उसके साहित्य को एक नया मोड़ दिया था। कितने ही संस्कृत नाटकों के अनुवाद किए गये जिनके श्लोक ब्रजभाषा में अनुवादित थे। राधाकृष्ण दास की 'पृथ्वीराज प्रयाण' और 'प्रताप विसर्जन' नामक कविताएँ अतीत के गौरव और राजनीतिक चेतना उत्पन्न

करने में कितनी सहायक हुईं, इसे आज समझना कठिन है। बाद में सत्यनारायण कविरत्न ने अपने भ्रमरगीत में राजनीतिक चेतना को बड़े अनोखे ढंग से और अधिक विकसित किया। उन्होंने कितनी ही राजनीतिक चेतना उत्पन्न करनेवाली सुन्दर कविताएँ लिखीं। रत्नाकरजी ने हरिश्चन्द्र का अत्यन्त सुन्दर आख्यान लिखकर ब्रजभाषा में वर्णन की एक नयी परम्परा चलाई। उदाहरण देने या उस समय के ऐसे अधिकांश कवियों की नामावली देने में भी बहुत समय लगेगा। इसीलिए इच्छा होने पर भी मैं इस लोभ का संवरण कर रहा हूँ। यदि मैं केवल इसी विषय पर भाषण देता—तो आपको अनेक सुन्दर कविताओं का रसास्वादन कराता।

ब्रजभाषा में १८५६ से १६०८ तक जो लोग कविता करते रहे उनमें सभी प्रायः १६०० तक ब्रजभाषा तक ही सीमित रहे। कुछ ने खड़ीबोली में भी कविता लिखी, और १६०१ के बाद कुछ लोग केवल खड़ीबोली में कविता करने लगे। इस युग के पूर्वार्द्ध काल के एक मात्र अपवाद श्रद्धाराम फुल्लौरी हैं जिन्होंने १८७५ से ८० तक केवल खड़ीबोली में कविता लिखी। अंबिकादत्त व्यास आदि कभी-कभी कविता में खड़ीबोली का प्रयोग कर लेते थे। १६०० के पूर्व पुरानी परम्परा चलती रही और पुराने ढंग के ग्रंथ भी रचे जाते रहे। महाराज मानसिंह की कीर्तिलता सौरभ, भिखारी दास के आचार्यत्व के ग्रन्थ, महाराज प्रतापसिंह के रस कुसमाकर, इसके अच्छे उदाहरण हैं। वह बुझती हुई ज्योति की अंतिम लौ थी। बहुत से ब्रजभाषा के कवियों ने या तो पुराने विषयों को नये ढंग से प्रस्तुत किया, जैसे रत्नाकर का हरिश्चन्द्र और गंगावतरण, सत्यनारायण कविरत्न का भ्रमरगीत, भानुजी का छन्द प्रभाकर (जो पिंगल का ग्रन्थ है)। श्रीधर पाठक ने ऊजड़ ग्राम (अनुवाद) द्वारा ब्रजभाषा में अंग्रेज़ी की पेन्सिलीन की सुई लगाई। प्रकृति चित्रण पर भी ध्यान दिया जाने लगा जो कि श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' और 'हिमालय' से प्रमाणित है। जो कवि पुराने विषयों पर लिखते

थे, जैसे उद्धव संवाद, भ्रमरगीत या विरह वर्णन उनमें भी एक नयापन और ताजगी आ गयी । उदाहरण के लिए महाराज मान-सिंह द्विजदेव के बसन्त आगमन का यह छन्द देखिए :

सुर ही के भार सूधे-सबद सु कीरन के,
मन्दिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौंन।
'द्विजदेव' त्यौं हीं मधु-भारन अपारन सौं,
नैंकु झुकि-झूमि रहे मोंगरे-मरुअदौंन।
खोलि इन नैननि निहारौं-तौ-निहारौं कहा,
सुखमा अभूत छाइ रही प्रति भौंन-भौंन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयौ सौ चन्द,
गंध ही के भारन बहत मन्द-मन्द पौंन।।

इसी युग के बाद के एक कवि का निर्वेद विषयक एक छन्द सुनिए :

वाहन बाजि के वृन्द 'ब्रजेस' गयन्द खरे के खरे रहि जायँगे
भोजन, भाजन, भूषन, भौन, भँडार भरे के भरे रहि जायँगे।
अन्त समै कफ-बात सों ग्रासित बैन गरे के गरे रहि जायँगे।
पीनस, पालकी, पालने, पाल, पलंग परे के परे रहि जायँगे।

इस आधुनिक काल के आरंभिक काल में ब्रजभाषा जितनी परिष्कृत हो गई थी वह उपर्युक्त छंदों से प्रकट है, किन्तु एक ऐसा उदाहरण देखिए जिसमें विषय तो पुराना हो किन्तु कलम तोड़ दी गई हो। ब्रजभाषा में विरह का वर्णन पराकाष्ठा पर पहुँच गया था किन्तु इस युग के एक कवि ने ब्रज के गउओं के विरह का जैसा वर्णन किया है वैसा ब्रजभाषा के गौरवकाल में भी किसीने नहीं किया और उसकी भाषा, अभिव्यक्ति, रस के परिपाक, काफिया और रदीफ के निर्वाह पर ध्यान दीजिए। श्रीकृष्ण के मथुरा गमन पर ब्रज की गउओं का विरह वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है :

नंद के भौन कों गैयाँ सबै मिलि, भोर निहारत ही रहती हैं,
सांवरे श्याम की याद में ताकत मोर निहारत ही रहती हैं,

बाँसुरी के मिस, बावरी बाँस के पोर निहारत ही रहती हैं,
भूलि गयीं चरिबौ, जमुना तट ओर निहारत ही रहती हैं।

घर की करें फेरी घरी घरी ये, बसु जाम रम्हाइबौ जानती हैं
जमुना तृन-संकुल गोकुल ग्राम गली उर एक न आनती हैं।
लरजी लरजी सी रहैं ये जसोमति की बरजी नहीं मानती हैं,
दुखदाई भईं अब तौ अपने बछराहू नहीं पहिचानती हैं।

थौरी भई कल बौरी जु प्रात ही नन्द की पौरी निहारन लागी,
बेर भई तो रम्हाइ रम्हाइ कैं देहरी सौं सिर मारन लागी,
आँगन सों उठि धाई जसोमति, प्रेम भरी पुचकारन लागी,
आँसुन सों भरि आयो गरौ—हिचकीन में स्याम पुकारन लागी।

आपमें से किसी विद्वान ने शायद ही ब्रज की गउओं का ऐसा या इससे अधिक हृदयद्रावक वर्णन पढ़ा हो तो आप जाने, किन्तु मैंने तो इसके जोड़ के इस विषय के छंद नहीं देखे। विषय पुरातन होने पर भी उस युग के ब्रजभाषा के कवियों की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य और शैली देखने योग्य है। तब कहाँ रह गया था वह शृङ्गार इन कवियों में जिनके लिए ब्रजभाषा बदनाम है?

उस युग में ब्रजभाषा में वर्णन करने की शक्ति कितनी विकसित हो गयी थी, और उस समय प्रत्येक विषय चाहे वह धार्मिक ही क्यों न हो—उसे अतीत के गौरव की स्मृति दिलाने और उसमें तत्कालीन देश तथा हिन्दुओं की दुर्दशा की ओर पाठकों को प्रेरित करने की कितनी गहरी प्रवृत्ति थी, उसका एक उदाहरण देखिए।

किशोरीलाल गोस्वामी निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य थे और मधुर भक्ति के अनुयायी थे। अतएव उनकी ब्रजभाषा की कविता उस अतिशुद्धतावादी वातावरण में पुरानी समझी जाती थी और उसकी उपेक्षा रही। सरस्वती के प्रथम वर्ष में जब पाँच सज्जनों का सम्पादक मंडल बना था तब वे भी उसके सदस्य थे और उस वर्ष सबसे अधिक लेख और कविताएँ उन्हींकी प्रकाशित हुई थीं। इनमें उनकी इन्दुमती नामक कहानी भी थी जो हिन्दी की प्रथम आधुनिक कहानी मानी

जाती है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राजा शिवप्रसाद का बहुत विवरणपूर्ण जीवन चरित भी लिखा था। यद्यपि वे ब्रजभाषा के कवि थे तथापि सरस्वती में पहिली खड़ीबोली की कविता प्रथम वर्ष उन्होंने ही लिखी थी। किन्तु जब द्विवेदीजी उसके सम्पादक हुए तब उन्होंने अपनी नयी नीति के अनुसार कुछ दिनों बाद ब्रजभाषा की कविता छापना बंद कर दिया। न मालूम किस कारण से वे बाद में गोस्वामीजी से इतने अप्रसन्न हो गये कि उन्हें सरस्वती की सम्मानार्थ प्रति भेजनी भी बंद कर दी थी। यह बात स्वयं गोस्वामीजी ने मुझे बतलायी थी। किंतु सम्पादन संभालने के कुछ दिनों—शायद दो, तीन या चार वर्ष तक वे अपने मित्र पूर्णजी की तथा दो एक अन्य ऐसे ही कवियों की ब्रजभाषा कविताएँ छाप दिया करते थे। गोस्वामी जी उन दिन हिंदी संसार में बड़े प्रतिष्ठित लेखक थे और बड़े समर्थ कवि थे। पुराने ढंग के गोस्वामी होने पर भी उनमें तत्कालीन पुनर्जागरण की भावना प्रबल थी, और आरंभ में द्विवेदीजी उनकी उपेक्षा नहीं कर सके।

"सरस्वती" हिन्दी की पहिली सचित्र पत्रिका थी। जब द्विवेदी जी ने उसका सम्पादन लिया तब उन्होंने व्यक्तियों के चित्रों के अतिरिक्त कला की दृष्टि से भी चित्र प्रकाशित करने का निश्चय किया। उन दिनों राजा रविवर्मा के चित्रों की धूम थी और वे उन्हें प्रकाशित करने लगे। बाद में अन्य चित्रकारों के चित्र भी प्रकाशित किए। किन्तु वे प्रत्येक चित्र पर एक कविता प्रकाशित करना भी आवश्यक समझते थे। अतएव प्रकाशित होने वाले चित्र पर किसी से कविता भी लिखने को कहते थे। वह समस्यापूर्ति का नया ढंग था। उदाहरण के लिए, उन्होंने रंभाशुकसंवाद और वामन अवतार के चित्रों पर पूर्णजी से, वंसतसेना पर नाथूराम शंकर शर्मा से, वेद व्यास के चित्र पर मैथिलीशरण गुप्त से कविताएँ लिखवायी थीं। इसी क्रम में रविवर्मा के प्रसिद्ध चित्र गंगावतरण पर उन्होंने किशोरी लालजी से समस्यापूर्ति करायी। इस चित्र में गंगाजी की धारा आकाश से गिर रही है—अभी वह शंकरजी की जटाओं तक नहीं पहुँची। धारा में गंगाजी का खड़ा हुआ चित्र है जिसमें मालूम

पड़ता है कि वह क्षण भर के लिए ठहर-सी गयी हैं। उसे देखकर कालिदास की यह पंक्ति याद आती है—शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।" चित्र में शंकरजी अपनी जटाएँ फैलाए रुद्ररूप में उसके नीचे खड़े हैं जिससे गंगा के गिरते ही वे उसे अपनी जटाओं में ले सकें। एक ओर ऋषि वेश में हाथ जोड़े भगीरथ खड़े हैं। दूसरी ओर नन्दी का सहारा लिए उत्सुकता से पार्वती इस घटना का परिणाम देखने को खड़ी हैं। यह रविवर्मा के सर्वोत्तम चित्रों में हैं और आप लोग उससे अवश्य परिचित होंगे।

किशोरीलालजी की कविता बड़े नाटकीय ढंग से आरम्भ होती है। आकाशवाणी संसार को सूचित कर सावधान करती है कि गंगाजी आकाश से पृथ्वी पर गिरने वाली हैं। वह घोषित करती है—

"तरलित तुमुल तरंगवती सुरधुनी सुशीला,
करत पुनीत व्योम-पथ, उतरति है करि लीला।
सावधान दिक्कुंजर! धरा! तु हू सुधि इति दै,
हे फनीश! धरु याहि, कमठ! याही मधि चित दै।

हेमवती यह बहिन उमा की परम पुनीता,
आवत, पाप पुंज गन सुगति देन मनचीता।
हटो, बचो रे गगन बिहारी! मारग छोड़ौ।
मतकंधर सों विनय सहित, तृन ह्वै तृन तोरौ।

भानुवंश अवतंश महाभागवत भगीरथ,
तू कियौ नाम तु हू ने या छिति पै सुभ तीरथ,
अब राजर्षि!" तपस्या तेरी यह फल लायी,
सजग होउ शिव!" गगन-गिरा यों भाखि थिराई।

इस सचेत और सावधान करने वाली आकाशवाणी का प्रभाव यह हुआ:

जंहँ लहि हो अवकाश व्योम-भारती समोई
बढ़ी प्रतिध्वनि आघात-प्रतिघात बिलोई।

डगमगान दिक्कुंजर, धरनी डोलन लागी,
शेष डगमगाने, कच्छप की थिरता भागी,
देवासुर, नर, नाग, चराचर सरकि सकाने,
जलचर, थलचर, नभचर, कम्पित-गात चुपाने।

फिर गंगाजी आकाश से गिरने लगीं:

कोटि भानुगति गर्व खर्व करि धाई गंगा,
पिता गेह तजि व्योमवीथि मधि आई गंगा।
ठिठकि एक छिन गगन-मध्य, मुसकाई गंगा,
चितै शंभु, निजगति की बात सुनाई गंगा।

गंगाजी ने बड़े गर्व और अहमन्यता से शिवजी को सावधान करते हुए कहा:

"हे हे भाम भवानीपति! मम वेग न जानहु,
क्यों बरबस मम भार सहन कौ तुम प्रन ठानहु?
सहित तुम्हें, कैलास भेदि, पाताल सिधैहौं,
निज छोटी भगिनी कों तब मुख कहा दिखैहों?
या बावरे भगीरथ की मति तुम भूले!
मसक होइ, नग गहन चले! दैवहिं प्रतिकूले!
अस्तु होउ तुम सजग!"

इतना कहकर गंगाजी की धारा नीचे गिरने लगी। गंगाजी की इस चुनौती का प्रभाव शिवजी पर क्या हुआ:

सुनत व्यंगमय अहमति वचन, विषम लोचन यों
तमकि उठे रिसि घोर मूर्ति धरि कोपपुंज ज्यों।
चाँपि पगन कैलास, रौद्रवपु कटि कर दीन्हें,
पृष्ठ भाग में जुगल करन निज शूलहि लीन्हें।
फटफटाइ निज जटा, तिहूं लोचन रिसि बोरे,
ज्वाला-माला भीषन आनन ओप अथोरे।
करि ऊंचे मस्तक गंगा दिसि नैन तरेरे,
बाकी वेगवती तरलित गतिहू कों हेरे।

अभिमानिन के गर्व खर्ब करिबे हित ठाढ़े,
मूर्तिमन्त रस-रौद्र मनहुं छिन छिन प्रति बाढ़े।

भगवान शिव ने गंगाजी की गर्वोक्ति की अवज्ञा कर उसका कोई उत्तर नहीं दिया। नन्दी, भगीरथ और पार्वती के भावों का वर्णन करने के बाद गंगाजी के अवतरण का वर्णन करते हुए कहते हैं:

मनहुं बेगधारा में निज गति-वेग मिलावति,
बायुवेग प्रतिछिन पाछे करि, उतरति आवत,
मुदित नैन, सिथिलित सुअंग, वर वलित वसन तन,
खलित केस, अति ललित छटा, छिटकत चहुं प्रति छिन,
वह धावत आवत मुनिजन मानस हरषावत,
कै बाकी दिसि यह भूगोल गेंद सौ धावत।
कोटि कोटि घननादन सों करि दस दिसि कंपित
गिरी शंभु की जटा मध्य गंगा, करि झंपित,
घूमन लागी जटा जूट घनगहन मध्य वह।....

इसके बाद की कथा कहकर वे गंगाजी के पृथ्वी पर आने का परिणाम यों बतलाते हैं:

जब आई छिति पै गंगा मंगल की मूला,
भए चराचर मुदित, मिटे सबके मनसूला।
हरी भरी धरनी घरिनी यह हरि की सोहत
नवयुग मानों छयौ धरनि मैं याके आये।

पर इसके बाद ही गोस्वामीजी इस गंगावतरण को उन भावनाओं की ओर मोड़ देते हैं जो जनता का ध्यान अतीत के गौरव और देश की दुर्दशा की ओर आकृष्ट करते हैं:

पै मातगंगे! अब का लखियत मुंह बाए?
तू कंहँ जाइ बिलाई, कैसी बनि सचुपाई?
हाय! भयौ यह कहा, मातु गंगे! लखु आई।
रहे न अब राजर्षि भगीरथ, राम न राजा,
नहिं ब्रह्मर्षि जन्हु, कुलगुरु बशिष्ठ महाराजा।
त्रेता द्वापर बीति अमल कलजुग कौ आयौ,

हाय ! पराधीनता-पाश भारतहिं बंधायो।
बिचरे जंहँ ब्रह्मर्षि कोटि राजर्षि राजगन,
वह भारत पद दलित भयो म्लेच्छन के घन घन।
उलटि फेरि अति भयो हाय गंगे ! या भू पर,
तू छिति छोड़ि पताल गई, कै धायी ऊपर ?
भारत भारत नाम आज 'आरत' करि बाच्यों
साँचो सब कुछ गयौ, ठाठ रहिगौ अब काँचौ।
इन्द्रप्रस्थ अयोध्या मथुरा भूरि नसानी,
महा महा जनपद की अब ना रही निसानी।

धन, जन, बल, पुरुषार्थ, सत्य सब नस्यौ यहाँकौ,
सब सोवत हैं, नहिं जानत धन गयौ कहाँ कौं।

और अन्त में सुखद भविष्य की प्रार्थना करते हुए और पाठकों को आशा बँधाते हुए समाप्त करते हैं :

कब लैहैं अवतार कल्कि भगवान बतावहु,
छाँड़ि आपनी नींद मातु गंगे ! इत आवहु,
छल बल कै कल करि भारतजन वेगि जगावहु
समल अमल करि हृदय निजत्व तिनहि समुझावहु।

सीखहिं भारतवासी—

धन, बल विद्या, विनय, नीति, वाणिज्य, शिल्प बहु,
जय गंगे ! जय गंगे ! जय जय भाषहिं प्रति दिन !

गोस्वामीजी का "निजत्व" शब्द से अभिप्राय आत्म-सम्मान से है। इससे अधिक हम क्या चाहेंगे कि :

समल अमल करि हृदय निजत्व तिनहिं समुझावहु,
धन, बल विद्या, विनय, नीति, वाणिज्य, शिल्प बहु

सीखहि भारतवासी जन......

मैंने गोस्वामीजी की कविता का यह उदाहरण यह बताने को दिया है कि उस समय ब्रजभाषा में श्रृङ्गार की ही नहीं, अन्य

लौकिक विषयों की अभिव्यक्ति की जितनी शक्ति आ गयी थी और ब्रजभाषा के कवि समय के साथ कंधा मिला कर कितना चलने लगे थे। उन्होंने अतीत, वर्तमान और भविष्य का एक अद्भुत और प्रेरक सामंजस्य उत्पन्न कर दिया था और गोस्वामीजी केवल परम्परावादी कवि ही नहीं थे, वे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति जागरूक थे। उनके उद्दाम देश प्रेम और अंग्रेज़ों के विरोध की भावना का एक प्रसंग देना असंगत न होगा जब 'काँग्रेस' अधिकारियों ने राजभक्त लोगों को उसका सामना करने के उद्देश्य से उन्हें संगठित करने के लिए अमन सभाएँ बनाईं थीं। उन दिनों गोस्वामीजी काशी में रहते थे और साहित्य संसार में उनका बड़ा सम्मान था। किन्तु गोस्वामीजी ने उसका बड़ा कड़ा उत्तर दिया था।

ब्रजभाषा में केवल विषयवस्तु ही का परिवर्तन नहीं हुआ, प्राचीन छन्द के अतिरिक्त संस्कृत वृत्तों का भी प्रयोग आरम्भ हो गया था। कई कवियों ने ब्रजभाषा में संस्कृत वृतों में छंद रचनाएँ कीं। और भी नए ढंग से छन्दों के प्रयोगों का भी ब्रजभाषा के कवि प्रयास कर रहे थे।

ऐसा एक उदाहरण दूँगा यद्यपि वह १९०८ के बाद का है जिससे मालूम हो कि ब्रजभाषा के उपेक्षित होने पर भी उसकी प्रगति रुकी नहीं। इसे देने का एकमात्र प्रयोजन यह बतलाना है कि ब्रज-भाषा के कवि समय के अनुसार चलने को सक्षम थे। इस कविता का विषय भी अनूठा और उसका छंद भी ब्रजभाषा का परम्परावादी न होकर आधुनिक है। कविता का शीर्षक भी अनोखा है। वह है 'चिता' और वह मदनलाल चतुर्वेदी नाम के कवि ने लिखी थी, यह कविता मैंने प्राय: ४० वर्ष पूर्व अपनी एक नोटबुक में लिख ली थी। कविता यह है जो 'चिता' को संबोधित है :

हे समता चिर अमर शान्ति की गोद!
तुम अनन्त की सरल गैल पुरजन अंतिम आमोद।

पीय मिलन कों साध भरी
अधि रात सेज सुख हेला,
घोर प्रलय उन्माद किन्तु
जीवन प्रभात नवबेला।

धधकि धधकि का गावै है तू कल्लोलिनि के तट पै?
केहि भासा के मधुर शब्द अंकित तुव अचल अधर पै।

देखि देखि क्यों तोहि आज
कोई करुण पुकार सुनावै?
री! काके सुहाग को टीको
पोंछि, जीह लपकावै?

विषम विपुल वेदना-बलित,
औ भीषण नित्य नवीना
बोलत बोल बड़े गरबीले
अहो! अग्निमय वीना।

(२)

तोहि विरह संजोग एक सम,
अरी! काल-असि-धार!
प्रकृति अभिसार,
तुही करावहि जानै कितकों,
धरि गल मनुज-कपाल भाल,
कंकाल जाल पै नृत्य करै
क्यों चढ़ि चिन्ता चेतहि अपार?

(३)

है चतुरानन की प्रथम चूक!
तू लीलत जात अघात नहीं
क्यों ऐसी तेरी विषम भूख!

(४)

डाइन यम की प्यारी चेरी !
राव रंक कोउ
बच्यो न तोसों
तेरी सबमें फेरी !

(मैंने कई शब्दों के ब्रजभाषा रूप को बदलकर आधुनिक तत्सम कर दिया है ।)

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि ब्रजभाषा को स्वाभाविक रूप से विकसित होने का अवसर दिया जाता तो वह अवश्य ही अपने आपको युग के अनुकूल विषय वस्तु और उसकी आधुनिक अभिव्यक्ति के अनुरूप बना सकती थी। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। ब्रजभाषा के विरुद्ध पूर्वाग्रह प्रबल हो गये और गद्य तथा पद्य की भाषा एक होने का बुद्धि-संगत तर्क अकाट्य था। ब्रजभाषा अपने पद से बड़े प्रयास और सुनियोजित आन्दोलन और प्रयत्न द्वारा हटायी गई जिसमें सभी प्रकार के उपायों का उपयोग किया गया।

मैं स्वयं ब्रजभाषाभाषी हूँ। किसी समय लड़कपन और पागलपन में आकर मैंने कुछ तुकबंदियाँ करके अपने को कवि बनाने की दुरभिलाषा की थी। ब्रजभाषाभाषी होने के कारण मैंने भी ब्रजभाषा में तुकबंदिया की थीं, किन्तु साथ ही तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर खड़ीबोली में भी उन्हें लिखता था। फिर जब मेरा मोह भंग हुआ तब मैंने तुकबंदी करना छोड़ दिया और कई वर्षों जीवन के संघर्ष में एक ऐसे क्षेत्र में चला गया जहाँ शुष्क फाइलबाजी, नियुक्ति, स्थानान्तरण, रिपोर्ट और विभागीय कार्यकलाप में ऐसा खो गया कि साहित्य और कविता से दूर जा पड़ा। किन्तु जैसा तुलसीदास ने कहा है, "बिधिवस सुजन कुसंगति परहीं।" १९३८ में मुझे राजर्षि टंडन के आदेश से हिन्दी संसार में प्रवेश करना पड़ा। साहित्यकार के रूप में नहीं, उन्हींकी तरह हिन्दी सेवक के रूप में। किन्तु वहाँ पहुँचकर मेरा सम्पर्क अनेक साहित्यकारों से भी हुआ जिनमें कवि भी थे। मैंने देखा कि युग इतना बदल गया है कि सनेही

और हितैषी के समान ब्रजभाषा के समर्थ कवि भी खड़ीबोली में कविता करने लगे हैं। अधिकांश पत्र-पत्रिकाएँ खड़ीबोली की ही कविताएँ छापतीं और इसीके कवियों को प्रोत्साहन देती हैं। केवल रत्नाकर, रसाल, द्विवेदी इने गिने ब्रजभाषा के कवि अपने पथ पर अविचल रूप से चलते रहे। शेष ने खड़ीबोली का पल्ला पकड़ लिया था। काव्य में खड़ीबोली पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई थी।

अब अति संक्षेप में इस परिवर्तन का लेखा-जोखा लेना भी आवश्यक है। मेरी दृष्टि साहित्यकार की नहीं, हिन्दी सेवक और हिन्दी प्रचारक की है। ब्रजभाषा गुजरात में मान्य थी। वहाँ सैकड़ों ही गुजराती ब्रजभाषा में कविता करते थे। प्रायः यही दशा पंजाब में थी जहाँ दशम गुरु तक ने ब्रजभाषा में कविता लिखी। किन्तु खड़ी-बोली कविता को न गुजरात ने स्वीकार किया और न पंजाब ने। गुजरात में गोविन्द गिल्लाभाई के बाद गुजराती भाषी ब्रजभाषा कवियों की परम्परा प्रायः समाप्त हो गयी। किन्तु खड़ीबोली न फैली। वहाँ हिन्दी की साहित्यिक परम्परा ही समाप्तप्राय हो गयी।

प्रकृति में शून्य नहीं रह सकता, अतएव पंजाब में जहाँ गुरु गोविन्द सिंह आदि ने भी ब्रजभाषा की कविता की थी, जहाँ सिख दरबारों में ब्रजभाषा के कवि रहते थे और कितने ही पंजाबी ब्रज-भाषा में लिखते थे तथा पहाड़ी राजाओं में वह मान्य थी, वहाँ खड़ी-बोली कविता को स्वीकार नहीं किया गया, और भाई वीरसिंह ने पंजाबी में काव्य रचना कर उसे काव्य और साहित्य की भाषा बनाकर एक नए साहित्यिक युग का प्रवर्तन किया। अतएव खड़ी-बोली कविता सिकुड़ कर केवल हिन्दी क्षेत्र में रह गई।

ब्रजभाषा के समान समृद्ध और जीवित काव्य को समाप्त करने का काम स्वयं हिन्दीभाषियों ने किया। मुझे संसार के साहित्यिक इतिहास में ऐसा दूसरा उदाहरण नहीं मिलता जहाँ एक समृद्ध और जीवन्त भाषा इस प्रकार उसी भाषा के लोगों के द्वारा समाप्त कर दी गयी हो। साहित्यिक आत्मघात की ऐसी कोई घटना मेरी जान-

कारी में कहीं नहीं हुई। इससे व्यथित होकर स्वर्गीय सत्यनारायण कविरत्न ने लिखा था:

बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देस में
अटक कटक पर्यन्त कहिय भारत असेस में।
एक राष्ट्र भाषा की जो त्रुटि पूरत आई
इतने दिन सों करत रही तुम्हरी सेवकाई
सत समरथ कवियन की कविता कै प्रमान हैं जामें
निरखहु नयन उघारि कहाँ लौं सबुध गिनामें
इक दिन जो माधुर्य कान्तिमय सुखद सुहाई
मंजु मनोरम मूरति जाकी जग जिय भायी
देखत तुम निश्चिन्त जात ताके अब प्राना
अभागिनी शोकार्त कहहु को तासु समाना?
लिखन रह्यौ इक ओर, तासु पढ़िवौहु त्यागो,
माता सों सुख मोरि कहा तुम मन अनुरागो?
शुभ राष्ट्रीय विचारन कौ जब पुण्य प्रचारा
कैसौ याको संग कियो तुमने उपकारा।
रह्यौ बनावन याहि राष्ट्रभाषा इक ओरी,
उलटौ जासु अनिष्ट करन लागे बरजोरी।
या जीवन संग्राम माँहिं पावत सहाय सब,
नाम लैन हू तज्यो किन्तु तुमने याकौ अब।
क्यों जासों मन फिरचौ कृपा करि कछुक बतावो,
वृथा आतमा या ब्रजभाषा की न सतावौ।

यही नहीं, आज अनेक कारणों से खड़ीबोली के विरुद्ध प्रतिक्रिया आरंभ हो गई है। अब मैथिली, राजस्थानी, भोजपुरी, अवधी, बुन्देलखण्डी, मालवी, वज्जिका, आदि हिन्दी की उपभाषाएँ पंजाबी और नैपाली की तरह अपने-अपने क्षेत्रों में अपने को स्थापित और प्रचलित करने का प्रयास कर रही हैं। मैथिली को इस प्रयास से कुछ सफलता भी मिल गयी है। विघटनकारी तत्व इन बोलियों को अपने क्षेत्रों में साहित्य और राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने

की ओर क्रियाशील हैं और मुझे वह दिन दूर नहीं मालूम होता जब वे खड़ीबोली को हटाकर अपने क्षेत्रों में राजभाषाएँ हो जायँगी। संविधान में अंग्रेज़ी के साथ देश की वैकल्पिक राजभाषा के रूप में खड़ीबोली अवश्य स्वीकार की गयी है, पर प्रत्येक राज्य या क्षेत्र अपने क्षेत्र की भाषा को अपनी राजभाषा बनाने को स्वतंत्र है। ऐसा दिन आ सकता है कि खड़ीबोली किसी क्षेत्र की भाषा न मान्य रहे। शायद वह कागजी वैकल्पिक राजभाषा बनी रहे और विश्वविद्यालयों में भी इसका स्थान अन्य क्षेत्रीय भाषाओं के साथ बना रहे। आप लोग जानते होंगे कि राजस्थान तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में क्या हवा चल रही है। वह केवल कुछ साहित्यकारों और नागरिकों तक सीमित रह जायेगी। इसके अनेक कारण हैं। उन पर कुछ कहना यहाँ असंगत होगा किन्तु यदि कभी इस पर अपने कुछ विचार हिन्दी जनता के सामने रखने का अवसर मुझे मिलेगा तो मैं उससे लाभ उठाऊँगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य काल के आरम्भ में उस युग के कविता क्षेत्र में ब्रजभाषा ने जो भूमिका निर्बाह की उसका मैंने बहुत संक्षेप में एक विहंगम दृश्य आपके सामने प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। जानता नहीं कि मैं कितना सफल हुआ हूँ। कहने को बहुत कुछ है। सनेहीजी, हितैषीजी, द्विवेदीजी, अनूपजी, हरिऔधजी, रत्नाकरजी, नवनीतजी, सत्यनारायण के समान कितने ही मान्य और सिद्ध कवियों की चर्चा तक नहीं कर सका जिन्होंने ब्रजभाषा को नये युग के अनुरूप बनाकर उसे समृद्ध किया। किन्तु इतने ही में मैंने इतना समय ले लिया और आपको 'बोर' किया है। उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ। अन्त में अपने आदरणीय मित्र श्री रसालजी के एक छंद से इस अंश को समाप्त करता हूँ क्योंकि वह मेरी इस समय की भावना को भलीभाँति व्यक्त करता है :

यह औसर श्याम कथा कौ मिलौ सो गयौ रसना की रला-रली में,
कहिबे सुनिबे की रही सो रही, इन बातन ही की बला-बली में,
मन मीन विचारे मरे से परे एहि ज्ञान की कोरी दला-दली में,
मनभावती हू कहि जाते कछू, अब ऊधव ! ऐसी चला-चली में !

खड़ीबोली पद्य का आरम्भ काल

जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, खड़ीबोली में गद्य लिखने में कोई मतभेद नहीं था। किन्तु प्रायः १९०० तक कविता अधिकतर ब्रजभाषा ही में लिखी जाती थी। कुछ लोगों का मत था कि हिन्दी के सर्वमुखी विकास के लिए गद्य और पद्य की भाषाओं में अन्तर नहीं होना चाहिए। इसमें सबसे अधिक आन्दोलन मुजफ्फरपुर के श्री अयोध्या प्रसाद खत्री ने किया, और जैसा कि अति उत्साह में कभी-कभी हो जाता है, उन्होंने ब्रजभाषा की काफी कड़े शब्दों में मरम्मत की। वे उसे गंवारू बोली कहते थे। उन्होंने खड़ीबोली को ठेठ हिन्दी, पंडित स्टाइल, मोलवी स्टाइल, मुंशी स्टाइल और यूरेशियन स्टाइल शैलियों में वर्गीकृत किया। उन्होंने लिखा है, 'मैं भाषा अर्थात् ब्रजभाषा छंद को हिन्दी छंद नहीं मानता हूँ। खड़ीबोली के व्याकरण में ब्रजभाषा को जगह देना और ब्रजभाषा शब्दों को हिन्दी में पोइ-टिकल लाइसेंस समझना हिन्दी व्याकरण की, मेरी समझ में, भूल है। चंद की हिन्दी को मैं पुरानी हिन्दी और आधुनिक हिन्दी को खड़ीबोली मानता हूँ।' ठेठ हिन्दी से उनका तात्पर्य खड़ीबोली था। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक पुस्तक में ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया था। वह उसी युग में लिखी गयी थी। उन्होंने एक जगह यह भी लिखा था कि :

वे खड़ीबोली को 'खरी' अर्थात् शुद्ध बोली बतलाते थे। हिन्दी साहित्य संसार में खड़ीबोली के पद्य को सबसे पहले सफलतापूर्वक लिखने का श्रेय पण्डित श्रीधर पाठक को है।

यद्यपि खड़ीबोली की कविताएँ पहले भी लिखी गयी थीं पर हिन्दी काव्य संसार पर इनका विशेष संघात नहीं हुआ। भारतेन्दु

काल तक ब्रजभाषा का वर्चस्व बना रहा।

जैसा कि मैं कह आया हूँ, गंभीरता से खड़ीबोली काव्य का प्रवर्तन श्रीधर पाठक ने किया। सन् १८८६ में पाठक जी ने गोल्ड-स्मिथ के हर्मिट का 'एकान्त वासी योगी' के नाम से खड़ीबोली में अनुवाद प्रकाशित किया, जिसने हिन्दी जगत में उथल-पुथल मचा दी, और खड़ीबोली में कैसी कविता हो सकती है, इसका एक ठोस उदाहरण सामने रखा। उनकी खड़ीबोली आज की दृष्टि से परि-निष्ठित नहीं थी। 'कहाँ जलै है वह आगी?' ऐसी पंक्तियाँ आज स्वीकार न की जायेंगी। किन्तु उस समय उस खड़ीबोली के अनुवाद ने खड़ीबोली में कविता करने की सम्भावना और उसकी काव्य सामर्थ्य को प्रमाणित कर दिया, और इससे उन लोगों को बल मिला जो विभिन्न कारणों से ब्रजभाषा कविता के विरुद्ध थे।

किन्तु मजे की बात है कि इस अनुवाद के पहले और बाद में भी वे ब्रजभाषा में कविता करते रहे। वे आगरे जिले की फीरोजाबाद तहसील के जोंधरी ग्राम के निवासी थे, और उनकी मातृभाषा ब्रज-भाषा थी। इसके बाद उन्होंने जो 'डिज़र्टेड विलेज' का अनुवाद किया वह भी ब्रजभाषा ही में था। इसके बाद उनकी 'काश्मीर सुषमा' और 'हिमालय' नामक कविताएँ भी ब्रजभाषा में थीं। बाद में वे खड़ीबोली में स्फुट कविताएँ अधिक लिखने लगे, किन्तु फिर भी कभी-कभी उनके ब्रजभाषा के संस्कार प्रबल हो जाते थे। 'वनाष्टक' में उन्होंने ४ छंद खड़ीबोली और ४ छंद ब्रजभाषा में लिखे थे। किन्तु इतना सब होने पर भी वे खड़ीबोली कविता के आचार्य माने जाने लगे।

प्रश्न उठता है कि पाठकजी को खड़ीबोली में कविता लिखने की प्रेरणा कहाँसे मिली, क्योंकि उनकी मातृभाषा ब्रजभाषा थी और उनके पिता परम वैष्णव थे। इसलिए घर का वातावरण ब्रजभाषामय होने के कारण उनके संस्कार ब्रजभाषा ही के थे जो उनमें जीवन-पर्यन्त बने रहे। बात यह थी कि जब वे आगरे में पढ़ते थे तब उन दिनों वहाँ ख्यालबाजी की बड़ी धूम थी। साल में दो-चार बार

ख्यालबाजों के बड़े दंगल हो ही जाते थे। मैंने ख्यालबाजी के इतिहास और साहित्य पर काफी सामग्री एकत्र की है और वह एक स्वतंत्र विषय है। अतएव उस पर विशेष कहने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना पर्याप्त है कि आगरे में उन दिनों पं० हरिवंश, पं० पन्नालाल, रूपकिशोर आदि ख्यालबाजों का बोलबाला था, और इनके ख्याल, जो कभी-कभी कवित्वमय होते थे, उर्दू, ब्रजभाषा और खड़ीबोली तीनों में कहे जाते थे। इनमें पं० रूपकिशोर जन्मजात कवि थे और उनमें उच्च स्तर की काव्य प्रतिभा थी। उनके खड़ी-बोली के दो ख्याल आपके सामने प्रस्तुत करता हूँ। एक मारवाड़ी गौरवर्ण सुन्दरी जमुनाजी में स्नान कर रही थी। उसका केवल चेहरा जल के ऊपर था। उसके जूड़े में 'बोर' नाम का गहना, जिसे शीशफूल भी कहते हैं, लगा हुआ था। उसमें एक नग भी लगा हुआ था, जो सूर्य की किरणों में चमक रहा था। उसे देखकर रूपकिशोरजी ने एक ख्याल बनाया, जो बहुत लोकप्रिय हुआ। वह ख्याल यह है :

है सीस पै सीसफूल शोभित, सरूप आभा अखंड का है,
मनों भुजंगों की भूमिका पै निवास श्री मार्तण्ड का है।
सजा वो तैंने विचित्र भूषण कि जैसी भूषित तू सुन्दरी है,
खिला है यमुना में पीत पंकज कि जिसमें दिनकर की द्युति भरी है।
ये फूल तेरे ने आज उपमा गगन में गुरु की हरन करी है,
कनक-शिखर पर कि बासुकी ने उगल के मस्तक पै मणि धरी है।

घृताची औ शची रति काम-चेरी,
कोई यह कर सकै समता न तेरी।
रची तोहि बाल विधि ने विश्व मोहन,
भये हैं श्याम बस मुखचन्द हेरी।

बनाया किसने ये फूल जिसमें प्रकाश मणि-गण प्रचण्ड है।
उदित अंधेरी में आज भृगु हैं कि जिनमें आभा है सोबरन की,
मयंक हो निष्कलंक बैठा बिछा के पर्यंक नीलमणि की।
चढ़े हैं काली के शीश केशव शपथ उठा के प्रकाशपन की,
किया है मंगथल ने वास चौकी बिछा कै मरकत बदासैं के नान की।

किधौं कर वास गोलाकार तन में,
चपल थिर हो के बैठे श्याम घन में।
तेरे भूषण ने सौ दूषण लगाकर,
कलंकित कर दिये गहने धरन में
धरन टटोले हैं आभरन सब न बल किसी में धमण्ड का है।

दिया सुदर्शन ने दिव्य दर्शन है आके कज्जल के कूट ऊपर,
कि नील पर्वत के इक शिखर पै गिरा है नक्षत्र टूट ऊपर।
या निश्चरों ने समूह सज के समर में सुरपति से लूट ऊपर,
सुधा-भरित सोवरन का कलसा धरा धरन कालकूट ऊपर।

सुमन जोति जगमगी है,
अंधेरी रात में अग्नी लगी है।
किधौं अनिमाल पर तारा गगन युत,
अचानक आय अरुणोदय जगी है।
कहाँ है सिर सीस फूल, चन्दा ये रात आधी निखण्ड का है।

अभूत भूषण है तेरेश भागिनि, दमक है दामन से दामिनी की,
कला बिगाड़े है तू कलानिधि कुबेर कंदर्प-कामिनी की।
प्रकाश का इन्दु बिन्दु होके हरै है छवि शुक्ल यामिनी की,
ये देखते ही बने न कहते—बनक श्री ब्रजधाम-धामिनी की।

श्री रूप किशोर रचना पावनी है,
अखिल अनुराग उर उपजावनी है।
ये कोमल काव्य माथुर आदि जन की,
मधुर ज्यों मधुकरी मन भावनी है।
वृथा है उपमा, न कल्पतरु से मिलान अच्छा अरंड का है,
मनो भुजंगों की भूमिका पै प्रकाश श्री मार्तण्ड का है।

इनके एक दूसरे ख्याल की कुछ पंक्तियाँ देखिये:

न खोल घूंघट के पट तू प्यारी चलेंगे नाराच चितवनी के,
सरोज सकुचेंगे चन्द्रवदनी, ये तेरे लगते ही चाँदनी के।

है चौथ, तू मत महल पै चढ़ियो, समय अंधेरी में यामिनी के,
लगेंगे घर घर से अर्घ्य, बिगड़ेंगे बर्त (व्रत) हर एक कामिनी के।

० ० ०

लगा न अंजन, गुमान-गंजन, ये प्राण-रंजन हैं दृग, धनी के,
करेंगे खण्डन के मान भंजन कटाक्ष करकर कुटिल अनी के।
कपोल पर लट पलट न प्यारी, डिगेंगे आसन सहसफनी के,
डसेंगे किस-किस के जी को जाने, करेंगे ये काम नागिनी के।

उनके एक सहयोगी हरवंशलाल के एक ख्याल की बानगी देखिये :

भावनाएँ सर्व दुर्योधन की मन जानी हुई,
घर विदुर के कृष्ण की इस हेतु अगवानी हुई।
भक्तवश भगवान की यह बात पहिचानी हुई,
दर्श करते ही मन मांहि विदुरानी हुई।
कृष्ण की केलों के छिलकों से ही मेहमानी हुई।

जब पधारे श्याम विदुरानी का मज्जन हो रहा,
प्रेम में थी कृष्ण के, और नग्न तन सब हो रहा।
जन्मदाता सृष्टि के संशय न कुछ मन को रहा,
ध्यान में, बेध्यान मायापति का दर्शन हो रहा।
सत्य प्रीति छुप न सकती बात यह मानी हुई,
कृष्णजी की केलों के छिलकों से मेहमानी हुई।

भोजनों के हित तुरत केलों की कलियाँ छोल के,
फेंकती जाती गिरी, देती थी पते खोल के।
स्वाद से खाते रहे सजिन को सुवाणी बोल के,
रस भरा इनमें है विदुरानी ने भक्ती तोल के।
क्या अधिक मिसरी से थी यह वस्तु रसखानी हुई,
कृष्ण की केलों के छिलकों से ही मेहमानी हुई।

इतने में आये विदुर निज नारि को देखा नगर।
दृष्टि आते ही विदुर-पत्नी ने लीना ढांक तन,
विप्र बोले—लोक लज्जा मुझसे है कारण कवन ?
तो वो बोलीं जगपति से है न कुछ पर्दा पतन,
तुम हो सांसारिक पती इससे मैं लजियानी हुई।

फिर विदुर बोले कि दुर्योधन के व्यंजन त्याग के,
घर मेरे आये हरी, भूखे, तुम्हारे साग के।
क्या खिलाती हो उन्हें पत्ते बिना ही पाग के,
विप्रनी बोली कि मैं प्रभु वहाँ में थी मैं अनुराग के।
प्रेम में ब्रजराज के मुझसे ये नादानी हुई।

अब उनके गुरु महाराज पन्नालाल का एक खड़ीबोली के ख्याल का नमूना देखिये:

अखंड अद्वैत आत्मा हूँ, न जीव त्रयगुण के जाल का हूँ,
न काल जीतै, न जन्म धारूँ, मैं ऐसे जोगी का बालक हूँ।
अजर अमाया अभय अमर पद मिला मुझे है गुरु के घर से,
जपूं न, अजपा, न मुँह हिलाऊँ, फिराऊँ माला को मैं न कर से,
तपूं न धूनी, न तन जलाऊँ, नहीं तपोवन को चित्त तरसे।

कभी प्रलय का मैं रूप धारूँ, कभी है जल में निवास अपना,
पड़े जो कानों में शब्द गुरु का, करूँ मैं जल से विकास अपना।
न जोग माया के आऊं वश में, बेजोग जागृत है पास अपना,
विदेह हूँ, मैं न देह जानूं, न नाश होवे हुलास अपना।

भभूत किसकी ? कहाँ की झोली ? न मैं कमंडल को कर में धारूँ,
न तन में कफनी, न ताज सिर पर, किसे चढ़ाऊँ, किसे उतारूँ ?
करूं न हत्या, न पाप पालूं, न पाँच में से किसीको मारूँ,
करें जो मुझसे विरोध पाँचो, मैं उनसे जीतूं, कभी न हारूँ।

न भैस भगवान से अलग हूँ, परन्तु ऐसा विवेक में हूँ,
न कोई जाने कि कौन हूँ मैं, वो एक हूँ मैं, अनेक मैं हूँ।

न दर पै दुनिया के सर मैं पटकूं, सदा मैं अपनी ही टेक में हूँ।
न मैं हूँ दुर्गा, न मैं हूँ भैरव, न ज्वाल विकराल कालिका हूँ,
अखंड अद्वैत आत्मा हूँ, न जीव तम गुण के जाल का हूँ।

तरुण श्रीधर पाठक विद्यार्थी जीवन में कई वर्ष आगरे में रहे और वहाँके तत्कालीन नागरिकों की तरह वे भी ख्यालबाजी के दंगलों का आनन्द लेते रहे। जैसा कि मैं बतला चुका हूँ, ये ख्याल उर्दू, ब्रजभाषा और खड़ीबोली—तीनों भाषाओं में होते थे। संस्कृतज्ञ परिवार के होने के कारण कठिन उर्दू को समझना या सराहना उनके वश की बात न थी, और ब्रजभाषा का इन ख्यालबाजों का स्तर ऐसा न था कि वह उन्हें प्रभावित करता। किन्तु ऊपर दिये हुए उदाहरणों की तरह के ख्यालों को सुनकर, जिनसे किसी-किसी में काव्य और अभिव्यक्ति की सुन्दर छटा मिलती थी, वे ब्रजभाषा-भाषी होते हुए और ब्रज प्रदेश में तब तक रहते हुए भी, खड़ीबोली की ओर आकृष्ट हुए। समाज में ख्यालबाजों का बहुत सम्मान न था और कभी-कभी उनके दंगलों में अशोभनीय घटनाएँ भी हो जाती थीं। इसलिए रूपकिशोर ऐसे जन्मजात प्रतिभाशाली किन्तु कम पढ़े हुए व्यक्तियों की साहित्य संसार में मान्यता नहीं थी। किन्तु इतना अवश्य हुआ कि खड़ीबोली के सुन्दर ख्याल सुनकर श्रीधर पाठक को खड़ीबोली में कविता करने की प्रेरणा अवश्य मिली और जब उन्होंने खड़ीबोली में एकान्तवासी योगी लिखा तो सुसंस्कृत हिन्दी साहित्य जगत चकित रह गया—विशेषकर हिन्दी के तत्कालीन उन केन्द्रों के लोग जहाँ ख्यालबाजी का प्रचार न था। इस प्रकार पाठकजी खड़ीबोली काव्य में आये। वे खड़ीबोली कविता के आचार्य हो गये और उन्होंने अनेक ब्रजभाषा के कवियों को खड़ीबोली में कविता लिखने के लिए अनुप्राणित किया। उनमें मुख्य थे पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त।

द्विवेदीजी ने सन् १८८५ से ब्रजभाषा में कविता लिखना आरम्भ किया और वे प्रायः १८६८ तक केवल ब्रजभाषा में कविता करते रहे। उनकी प्रथम कृति महिम्नस्तोत्र का अनुवाद है, उसका

नमूना यह है:

करौं मैं विनय नाथ! कैसे तुम्हारी,
लखौं हौं दिये मोंहि हा हा पुकारी।
लहैं अन्त नाहीं कबौं बेद जाकौ,
सु मैं मन्द बुद्धी कहौं काह ताकौं।

बाद में उन्होंने भर्तृहरि के वैराग्यशतक का १८८६ में, और शृङ्गारशतक का १८६० में अनुवाद किया। इसी वर्ष 'विहार वाटिका' के नाम से गीत गोविन्द के कुछ पदों का, और गंगा लहरी का भी अनुवाद किया। १८६१ में 'ऋतुतरंगिणी' और १८६२ में 'देवी स्तुति शतक' नामक मौलिक रचनाएँ कीं। ऋतु तरंगिणी का प्रकाशन लाला सीताराम ने, जो उस समय झाँसी ही में डिप्टी कलक्टर थे, किया और उसकी भूमिका भी लिखी। इन कविताओं के कुछ नमूने शायद आप सुनना चाहें:

अनुवाद के नमूने:

वंशीवट तट यमुन के राधा नन्द किशोर।
बिहरत आनन इन्दु छवि ब्रजजन नयन चकोर।

परी छरी सी महि माँहि राधा,
कही न जावै सु असाध्य बाधा।
चलौ हहा दीजहु जीवदाना,
न तो तजैगी वह बेगि प्राना।

जिमि जिमि मुसकायी, युक्ति राधा बताई,
तिमि तिमि चित लाई, कीन सोई सुहाई।
तन मन बलि जाई, प्राण प्यारी रिझाई,
पुनि पुनि उर लाई, धाम आये कन्हाई। (विहार वाटिका)

कामिनि काया बन सघन, शिखर स्तन दुहुं ओर,
रे मन पथिक, न जाइए बसत मार तहं चोर।

मोह अंध मदग्रस्त जब मदन हाथ विकि जात,
सकल विश्व तब नारिमय दश हूँ दिशि दरसात। (शृङ्गार शतक)

मौलिक कविता के नमूने:

महा पिपासाकुल क्षीण अंगा,
गरिष्ठ ग्रीष्माग्नि कहै कुरंगा।
शीतोदकार्थी पग वेग - हीना,
परिश्रमे दीन दुखी मलीना।

शनैः शनैः शुभ्र नदी प्रवाहा,
सरोज संयुक्त सरावगाहा।
समीर संचालित पद्मजाला,
महाप्रसन्नान मीनमाला। (ऋतु तरंगिणी)

शक्ति त्रिशूल असि पास गदा कुठारा,
धन्वा-धुरीणयुत केहरि पै सवारा।
जासों समस्त महिषासुर सैन्य हारी,
ता अष्टबाहु जाननीहि नमो हमारी। (देवी स्तुति)

१८६७ के पहले वे पत्र-पत्रिकाओं में शायद अपनी कविताएँ नहीं भेजते थे, किन्तु उस वर्ष से उनकी कविताएँ कालाकांकर के दैनिक हिन्दोस्थान, बंगवासी, भारतमित्र, भारत जननी, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, सुदर्शन, वेंकटेश्वर समाचार आदि पत्रों में प्रकाशित होने लगीं। मेरी जानकारी में उनकी पहली कविता हिन्दोस्थान में ११ मार्च १८६७ के अंक में छपी थी। उसका शीर्षक था, 'भारत का दुर्भिक्ष'। उसकी चार पंक्तियाँ ये थीं:

शक्ति नहीं जिनके बोलन की तकि तकि मुँह फैलावैं,
सींक समान देह लीन्हें वहु रोवत गोबर खावैं।
गुठली खान हेत बेरन की ढूंढ़त सोऊ न पावैं,
पग पग चलैं, गिरैं पग पग पर, आरत नाद सुनावैं।

जब पं० माधवप्रसाद मिश्र ने काशी से देवकीनन्दन खत्री की

प्रेरणा से अपना प्रसिद्ध मासिक 'सुदर्शन' निकाला तब उन्होंने द्विवेदी जी से उसके लिए अयोध्या की दशा पर एक कविता लिखने को कहा। उस समय वे फैजाबाद में लाला बलदेवप्रसादजी के यहाँ रहते थे। शायद इसीलिए उन्होंने अयोध्या की दशा से विचलित होकर उनसे यह कविता लिखने को कहा था। उसका आरम्भ इस प्रकार था:

प्रासाद जासु नभ मंडल में समाने,
प्राचीर जासु लखि लोकपु हू सकाने।
अत्यन्त दिव्य दृढ़ दुर्ग विलोक जाको,
आश्चर्य युक्त मन मुग्ध भयो न काको।

जाकी समस्त सुनि सम्पति की कहानी,
नीचौ नवाय सिर देवपुरी लजानी।
ताकी अरै! निपट निष्ठुर काल! ऐसी,
तूने करी शठ! दशा अति ही अनैसी।

प्राचीर नाहिं, नहिं दुर्ग, न सौध-माला,
अट्टालिकाहु नहिं देखि परैं विशाला।
उध्वस्त, जर्जरित, भग्न शरीर मेरो,
हा! हा! न जाय अब मोसन और हेरो।

और इसका अंत इस प्रकार किया था:

हे कोशलस्थ जन! रामपुरी दुखारी,
नाशोन्मुखी, नयन-नीर बहाय भारी।
सारी विपत्ति अब आज तुम्हें सुनाई,
माँगे बिदा अहह! अंतिम शीश नाई।
जो प्रीति लेश कछु होहि स्वधर्म माँहीं,
जो पै दया तुमहिं वंचित कीन नाहीं।
जो देशभक्ति कछु हू हिय में तुम्हारे,
तो धाय शीघ्र अब कष्ट हरौ हमारे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि वे ब्रजभाषा में कविता करते

थे, तथापि उसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग रहता था और कहीं-कहीं अवधी का पुट भी आ जाता था। एक बात और ध्यान देने योग्य है। संस्कृत से वे उस समय विशेष प्रभावित थे और संस्कृत वृत्तों का अधिकतर उपयोग करते थे। उन्हें बाद में अंग्रेज़ी में प्रभावित हो जाने के कारण शायद ब्रजभाषा के पुराने कवियों में विशेष रुचि नहीं रह गयी। इसी अवधि में उनका संस्कृत और अंग्रेज़ी पुस्तकों का अध्ययन बढ़ा। इसके दो परिणाम हुए। एक तो यह कि उनके धार्मिक विचारों में परिवर्तन हुआ। एक बार बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उनसे किसी धार्मिक अवसर पर 'भारत-मित्र' के लिए कोई कविता माँगी। उन्होंने इस पर श्रीधर पाठक को अपने एक पत्र में (जो अंग्रेज़ी में था) लिखा कि इधर मेरे धार्मिक विचारों में बहुत परिवर्तन हो गया है। अतएव मैंने कोई नई कविता नहीं लिखी। उन्हें लिख दिया है कि वे चाहें तो मेरी कोई वैसी पुरानी कविता इस अवसर पर प्रकाशित कर दें। दूसरा परिणाम यह हुआ कि वे पाश्चात्य विद्वानों के सिद्धान्तों से भी बहुत प्रभावित हुए—विशेषकर यूरोपियन संस्कृतज्ञों की संस्कृत साहित्य की व्याख्याओं से। यहाँ तक कि बाद में वे मैक्समूलर से पत्र-व्यवहार भी करने लगे थे। उन्होंने बेकन के निबंधों, (बेकन विचार रत्नावली) मिल की लिबर्टी (स्वाधीनता) आदि कई अंग्रेज़ी पुस्तकों के अनुवाद भी किये।

श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' के प्रकाशन के बाद से वे खड़ीबोली कविता में रुचि लेने लगे। संस्कृत तत्सम शब्दों के प्रचुर प्रयोग और संस्कृत वृत्तों का उपयोग पहले ही से करते थे, जो उनकी ब्रजभाषा में मुश्किल से खप पाते थे। उन्हें संस्कृत में भी कविता करने का अभ्यास था। उनकी कितनी ही संस्कृत कविताएँ उस समय प्रकाशित होने वाली संस्कृत पत्रिकाओं—जैसे संस्कृत चन्द्रिका में—प्रकाशित होती थीं और काव्य मंजूषा में उनके अनेक उदाहरण मिलते हैं। उन्होंने श्रीधर पाठक से परिचय किया, जो प्रगाढ़ मैत्री में परिणत हो गया और उनका आपस का पत्राचार नियमित रूप से

होने लगा, किन्तु जैसा कि मैं कह चुका हूँ, यह पत्राचार अंग्रेज़ी में ही होता था। द्विवेदीजी के पाठकजी को लिखे अधिकांश पत्रों का संग्रह भारत कला भवन में सुरक्षित है। मेरे पास पाठकजी के कुछ हिन्दी के, घरेलू पत्र अवश्य हैं। वे मुझे उनके पौत्र से मिले और वे इतने अंतरंग हैं कि मैंने उन्हें सार्वजनिक संग्रहालय में रखने के योग्य नहीं समझा। ये पत्र या तो उन्होंने अपने पूज्य पिताजी को या अपने पुत्र को लिखे थे। मेरे पास द्विवेदीजी के पाठकजी को संबोधित जो दो-एक महत्वपूर्ण अंग्रेज़ी पत्र थे वे भी मैंने कला भवन को दे दिये, जिससे सब पत्र एक स्थान में रहें। मैंने कुछ पत्रों की प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रख ली। कहने का तात्पर्य यह कि वे पाठक जी से अत्यन्त प्रभावित थे और एक पत्र में तो उन्होंने लिखा था कि मैं आपसे सुधी साहित्यिक की सलाह पाकर अपना सौभाग्य समझता हूँ। वे उनसे कितने प्रभावित और उनके कितने बड़े प्रशंसक थे, वह उनके 'श्रीधर सप्तक' से प्रकट होता है, जिसका प्रथम छंद यह है:

बाला बधू-अधर-अद्भुत स्वादुताई,
द्राक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठाई।
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी,
तो श्रीधरोक्त-कविता पढ़ियेऽनुरागी।

सारांश यह कि श्रीधर पाठक का उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे खड़ीबोली में कविता करने लगे। कुमारसंभवसार लिखने पर उन्होंने पाठकजी को लिखा था कि यह मैंने 'आपकी' खड़ीबोली में लिखा है। उनकी आरंभिक कविताएँ ऐसी हैं जो उनके उस गम्भीर रूप से मेल नहीं खातीं, जिस रूप में हम उन्हें जानते हैं। उनकी खड़ीबोली की पहली कविता श्रीवेंकटेश्वर समाचार के १६ अक्टूबर, १६०० के अंक में छपी। उसका शीर्षक था "बलीवर्द" (बैल)। उसकी आरंभिक ४ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:

बलीवर्दजी, मर्द गाय के, गर्द उड़ानेवाले वीर,
प्यारे वृषभ वृषभ-वाहन के, अति दुर्मद, अतिशय रणधीर।

नन्दीश्वर के विशद् वंशधर, कंस समान विवेक-विहीन,
वर्दराज, वृषराज, बैलवर, सुनिये कुछ निज कथा नवीन।

उनकी दूसरी खड़ीबोली का प्रयास कुछ भयंकर था। उन्होंने वायरन की 'ब्राइडल नाइट' का खड़ीबोली में अनुवाद किया। उनकी पत्नी ने उसे सुनकर ऐसी डाँट बतायी कि द्विवेदीजी ने उसे बन्द करके रख दिया और उसे किसी को नहीं दिखाया। वे कितने पत्नी-भक्त थे, यह इस बात से प्रमाणित है कि दौलतपुर में अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद एक छतरी बनवा कर उसमें उन्होंने स्मारक रूप में अपनी पत्नी की प्रतिमा स्थापित की थी। इसके बाद यद्यपि उन्होंने कुछ कविताएँ ब्रजभाषा में भी लिखीं किन्तु शनैः शनैः वे एक मात्र खड़ीबोली में कविताएँ लिखने लगे। सरस्वती के प्रथम वर्ष में उन्होंने 'द्रोपदी वचन वाणावली' नामक कविता छपवायी। तब वे उसके सम्पादक नहीं थे। उसका प्रथम छंद है:

धर्मराज से, दुर्योधन की, इस प्रकार सुन सिद्धि विशाल,
चिन्तन कर अपकार शत्रुकृत, कृष्णा कोप न सकी संभाल।
क्रोध और उद्वेग बढ़ने वाली तब, वह गिरा रसाल,
महीपाल को सम्बोधन कर बोली युक्ति-युक्त तत्काल।

इस कविता में भी कहीं-कहीं ब्रजभाषा का पुट आ गया है जैसे 'पाय सन्तोष', 'वीरोचित कोदण्ड विहाय', 'जटा बढ़ाय,' 'सुख पाय' आदि। किन्तु वह मूलतः शुद्ध खड़ीबोली है। उनकी कई अन्य खड़ीबोली की कविताओं में भी ब्रजभाषा का पुट कहीं-कहीं मिलता है। उनका तत्सम और संस्कृत वृत्तों का प्रेम किसी-किसी कविता में बहुत प्रकट हो जाता था और 'प्रियप्रवास' के कुछ छंदों से टक्कर लेता था, जैसे 'हे कविता' का आरम्भ:

सुरम्यरूपे! रसराशिरंजिते,
विचित्रवर्णाभरणे! कहाँ गयी?
अलौकिकानन्द-विधायिनी महा–
कवीन्द्रकान्ते! कविते! अहो कहाँ?

१९०१ के बाद वे हमारी जानकारी में केवल खड़ीबोली ही में कविता करते रहे। उनका 'कुमार संभव' का अनुवाद उनकी सर्वोत्तम कृति है। उनमें खड़ीबोली काव्य के प्रति उसी प्रकार का उत्साह, आग्रह और जोश था, जो नव धर्म परिवर्तित लोगों में होता है। 'सरस्वती' का सम्पादन लेने के बाद कुछ दिनों तो उन्होंने देवी प्रसाद 'पूर्ण', शंकरजी आदि की ब्रजभाषा की कृतियाँ इनकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और अपने संबंधों के कारण छापीं पर बाद में उनका एकदम वायकाट कर दिया। यह परम्परा उनके अनुगत और उत्तराधिकारी पं० देवीदत्त शुक्ल ने भी बनाये रखी। जब सरस्वती का सम्पादन मेरे हाथ में आया, तब मैंने एक बार एक ब्रजभाषा की कविता उसमें प्रकाशित कर दी थी। इस पर पं० देवीदत्त शुक्ल ने मुझे उलाहना भिजवाया था कि मैंने द्विवेदीजी की नीति और उनकी परम्परा को भंग किया है। जो भी हो, सरस्वती उस समय हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका थी और द्विवेदीजी ने कितने ही खड़ीबोली के कवियों को प्रोत्साहन दिया था और उन्हें हिन्दी जगत में प्रतिष्ठित किया। खड़ीबोली कविता जो, हिन्दी साहित्य में श्रीधर पाठक के द्वारा आरम्भ हुई, उसे हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित करने और उसे एकाधिकार दिलाने में द्विवेदीजी को सबसे अधिक श्रेय है। मैं यहाँ द्विवेदीजी के व्यक्तित्व, स्वभाव या कृतित्व से बारे में कुछ कहना असंगत समझता हूँ और यदि मैं कहने लगूँ तो एक दूसरा बड़ा निबन्ध बन जाय। अतएव मैं इतना कहकर ही सन्तोष किये लेता हूँ कि संस्कृत शब्दों के आकर्षण, ब्रजभाषा काव्य के शृङ्गारिक रूप के प्रति विरक्ति तथा अति शुद्धतावाद (प्योरिटेनिज्म) जो उनमें बाद में विकसित हो गयी थी, नवजागरण-जनित विषय-वस्तु के परिवर्तन और नवीन चेतना से अनुप्राणित होने के कारण वे नये ढंग की कविता के मिशनरी हो गये जिसमें इतिवृत्तता, उपदेश और सदाचार पर बल दिया जाता था।

दूसरे कवि जो पहले ब्रजभाषा में लिखते थे और श्रीधर पाठक के प्रति आकर्षित होकर खड़ीबोली में लिखने लगे, वे थे मैथिली

शरण गुप्त। उन्होंने ब्रजभाषा कवियों की परम्परा के अनुसार अपना उपनाम 'रसिकेश' रखा था, और बाद में जब वे खड़ीबोली में कविता करने लगे तब भी कुछ दिनों अपने नाम के साथ इस उपनाम का प्रयोग किया। वे पाठकजी को किस भक्तिभाव और सम्मान की दृष्टि से देखते थे, इसका कुछ आभास उनके पाठकजी को लिखे एक पत्र से मिलता है। पत्र यह है:

मान्यवर महाशय बहुशः प्रणाम।

श्रीमान की कवितामृत 'तरंगिणी' से अपने संतप्त हृदय को शीतल करने की नितान्त अभिलाषा है। अस्तु।

श्रीमान की सेवा में विनीत भाव से निवेदन है कि श्रीमान अपने ग्रन्थ रत्नों का प्राप्ति स्थान मूल्यादि से परिचय इस शरीर को अनुग्रहीत करके अतिशीघ्र ही प्रमुदित करें।

कृपाकांक्षी
मैथिली शरण, चिरगाँव

'तरंगिणी' पाठकजी की ब्रजभाषा की कृति है। उस समय गुप्त जी स्वयं ब्रजभाषा में कविता करते थे। किन्तु वे भी 'एकान्तवासी' से प्रभावित होकर खड़ीबोली की ओर उन्मुख हुए। झांसी में उनका परिचय द्विवेदीजी से भी हो गया था। जब द्विवेदीजी ने ब्रजभाषा के विरुद्ध जेहाद आरम्भ किया तब गुप्तजी पाठकजी से इतने प्रभावित हो चुके थे कि उन्होंने भी ब्रजभाषा छोड़ कर केवल खड़ी-बोली में कविताएँ लिखनी आरम्भ कीं। उनकी ब्रजभाषा की कविताएँ बहुत कम छपीं। वे स्वयं आग्रह करने पर भी उनके बारे में बात टाल जाते थे। किन्तु मेरे देखने में उनकी ब्रजभाषा की जो कविताएँ आयी हैं, उनके दो एक नमूने देता हूँ।

अन्योक्ति चन्दन के प्रति

द्विजिह्व जो बहु दुःखकारी, अत्यन्त द्वेषाविष बह्निधारी,
कारे करालांग भुजंग जैसे, पाटोर! धारे निज अंग कैसे?

भ्रमर के प्रति

पी पी पराग मदमत्त भयो महान,
जावै नितान्त सुख सों बिहर्यो बिहान ।
रे रे शिलीमुख ! बदाम्बुज कृत्य ताकौ,
कैसे ? कबैं ? करहि प्रत्युपकार ताकौ ?

दीपक के प्रति

शिखा दिखा मोह पतंग लेवै,
निराश पीछे कर शीघ्र देवै ।
रे दीप, तोसौं सब विश्व बीच
विश्वासघाती अरु कौन नीच य ?

उनकी ब्रजभाषा कविता के नमूने बहुत कम मिलते हैं। मैंने उनकी खोज करने का विशेष प्रयत्न भी नहीं किया, और यद्यपि वे मेरे घनिष्ट मित्र थे तथापि अपनी ब्रजभाषा कविता के सम्बन्ध में कुछ नहीं बतलाते थे। वे परम्परानुसार ब्रजभाषा के छंदों में भी रचना करते थे या नहीं, यह मैं प्रमाण के अभाव में नहीं कह सकता। उपर्युक्त कविताएँ उपनाम 'रसिकेश' के साथ छपी हैं किन्तु इनमें भी द्विवेदीजी की तरह वर्णवृत्तों और तत्सम शब्दों का प्राचुर्य है। अतएव वे भी उन्हींकी तरह खड़ीबोली में लिखने लगे और उन्होंने ब्रजभाषा को तिलांजलि दे दी। किन्तु वे ब्रजभाषा के प्रेमी अन्त तक बने रहे। उन्हें कितने ही ब्रजभाषा के सुन्दर घनाक्षरी और सवैये याद थे, और मुझसे ब्रजभाषा काव्य की चर्चा होने पर वे बहुधा तरंग में आकर तल्लीनता से उन्हें सुनाया भी करते थे। यद्यपि वे खड़ीबोली के पक्षपाती हो गये तथापि न तो उन्होंने ब्रजभाषा के विरुद्ध द्विवेदीजी की तरह जेहाद ही बोला और न उसकी अवमानना की।

श्रीधर पाठक से वे प्रभावित अवश्य थे किन्तु जब द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' हाथ में ली और खड़ीबोली की कविताओं को प्रोत्साहन देना आरम्भ किया तो उनकी कविता का प्रचार हिन्दी जगत में

बड़े वेग से हुआ। द्विवेदीजी उन पर बड़े सदय थे और उन्होंने उन्हें हिन्दी जगत में अपना स्थान बनाने में विशेष सहायता दी, जिसके लिए वे उनके आजीवन आभारी रहे और उन्हें गुरुवत् मानते थे! 'सरस्वती' के अतिरिक्त वे अन्य कुछ चुने हुए पत्रों में भी कभी-कभी, किन्तु बहुत कम, कविता भेजते थे। मेरे पूज्य पिता जी द्वारा सम्पादित श्री राघवेन्द्र में उनकी दो कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। उनमें एक थी श्री राघवेन्द्रस्तव। उसका नमूना देखिये:

पा के निदेश जिनका सब जानते हैं,
लोकेश विश्व रचते, हरि पालते हैं।
संहार रुद्र करते फिर हैं तदीय,
वे जानकी-रमण ही प्रभु हैं मदीय।

वेदों ने जब नेति नेति कह के गाये तुम्हारे गुण,
है मेरी फिर क्या कथा रघुपते! हे पाप ध्वान्तारुण!
हे सर्वेश्वर! दास जान अपना तो भी मुझे सन्तत,
मेरे हृद्‌गृह में निवास करिये, हे श्रीमैथिलीसंयुत।

उनकी सर्वाधिक कविताएँ सरस्वती ही में छपीं और उन्हींसे उनका प्रचार हुआ और प्रतिष्ठा मिली। उनकी पहली कविता सरस्वती में १९०५ में छपी, जिसका शीर्षक था 'हेमन्त'। बाद में तो वे उसके मुख्य कवि हो गये थे। उनकी कविता परिष्कृत होती गयी। १९०८ तक उनकी कविता पूर्ण रूप से परिष्कृत हो गयी थी। उसका नमूना वेदव्यास-स्तवन है:

शुभ सौम्य मूर्ति, तेजोनिधान,
हो अन्य भानु ज्यों भासभान।
ध्यानस्थ स्वस्थ सद्धर्म धाम,
भगवान व्यास! तुमको प्रणाम।

कर ज्ञान भानु तुमने प्रकाश,
अज्ञान निशा कर दी विनाश।

कर तव शिक्षामृत-पान शुद्ध,
संसार हुआ शिक्षित सुबुद्ध।

क्या राजनीति, सामान्य नीति,
क्या धर्म-कर्म, क्या प्रीति-रीति।
क्या भक्ति भाव, व्यवहार-देश,
उपदेश दिये तुमने अशेष।

कर वेदों का तुमने विभाग,
रक्षा की उनकी सानुराग।
वेदान्तसूत्र रच कर विचित्र,
नर को ईश्वरता दी पवित्र।

हो जाता धर्म सहायहीन,
सब पूर्वकीर्ति होती विलीन।
स्वच्छन्द विचरते पाप-ताप,
लेते न जन्म यदि ईश! आप।

यद्यपि यह इस भाषण के क्षेत्र के बाहर है तथापि यह उल्लेखनीय है कि इसके बाद उन्होंने (१९१२ में) 'भारत भारती' लिखी, जिसके कुछ अंश सरस्वती में निकले और वह उनके राष्ट्रकवि बनने की भूमिका बनी। कहा जाता है कि इसे लिखने की प्रेरणा उन्हें हाली के मुसद्दस से मिली थी, किन्तु मुझे इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला। 'भारत भारती' अपने समय में जितनी लोकप्रिय और प्रचारित हुई, और उसने पाठकों के हृदयों पर जितना संघात या प्रभाव किया, उतना शायद और किसी कविता की पुस्तक ने नहीं किया। उसने केवल गुप्तजी ही को प्रथम पंक्ति के कवि के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया, बल्कि खड़ीबोली काव्य को पूरी तरह से प्रतिष्ठित कर दिया। इसकी लोकप्रियता के निकट हरिऔधजी का 'प्रियप्रवास' और बच्चनजी की कुछ कविताएँ ही आ सकती हैं जो हमारे भाषण के क्षेत्र के बाहर हैं। उनके बाद की कृतियों पर कुछ कहना हमारे क्षेत्र से बाहर है। इसमें सन्देह नहीं कि गुप्तजी

ने खड़ीबोली को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करने में जो कार्य किया उसकी जितनी सराहना की जाय उतनी कम है। यह उनका सौभाग्य था कि उन्हें द्विवेदीजी और 'सरस्वती' ऐसे 'पब्लिसिटी एजेण्ट' मिल गये थे।

ब्रजभाषा के कितने ही मान्य कवि खड़ीबोली में कविता करने में नहीं हिचकते थे, क्योंकि उन्हें उससे कोई विरोध न था। मैं इसके कुछ उदाहरण दूँगा। पहला उदाहरण पं० किशोरीलाल गोस्वामी का है। सरस्वती में खड़ीबोली की पहली दो कविताएँ उन्हींकी प्रकाशित हुई थीं। यह १६०० की बात है। एक का शीर्षक था 'हेमन्त'। दूसरी कविता का नाम था 'प्रमोपहार'। उनकी खड़ी बोली कविता के दो छोटे नमूने ये हैं:

अरी! तू कौन है बाला,
कहाँसे आज आयी है।
कि फुलवारी को मथ डाला,
बता क्या बीन लायी है?

० ० ०

यह अपना है, और पराया यह है, ऐसा ही निःसार,
सभी जगत के लोगों के मन में है भरा महा कुविचार!
अपने लिए सभी सुख, सम्पति, मान आदि को बाँह पसार,
सदा माँगते हैं यह कह कर, 'कर इच्छा पूरी, करतार!'

एक दूसरे ब्रजभाषा के कवि जो अधिकांश ब्रजभाषा ही में लिखते थे, माध्व गौड़ेश्वराचार्य श्री मधुसूदन गोस्वामी थे। वे वृन्दावन में रहते थे। गोस्वामी होते हुए भी जब-जब वे प्रयाग पधारे और मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मैंने उन्हें गेरुआ धोती और गेरुआ उत्तरीय से भूषित देखा। उनकी ब्रजभाषा की कविता माध्व सम्प्रदाय के अनुसार भगवान कृष्ण की लीलाओं पर होती थी। उनकी एक ब्रजभाषा की कविता 'विरहिणी गोपी' ने मेरे किशोर मन को बहुत प्रभावित किया था। धर्माचार्य होने पर

भी वे लौकिक विषयों पर लिखने में संकोच नहीं करते थे और अन्य पुरातन धार्मिक विचारों के लोगों की तरह भारतवासियों की पाश्चात्य अनुकरणशीलता से क्षुब्ध थे। गम्भीर विद्वान और गम्भीर स्वभाव के होने पर भी वे इस प्रकार के लोगों पर चोट करने में नहीं हिचकते थे। ब्रजभाषा के कवि होने पर भी वे कभी-कभी खड़ीबोली में भी लिखते थे। हम यहाँ उनकी एक गम्भीर और एक व्यंग्य खड़ीबोली कविता के उदाहरण देते हैं:

चक्षुदान

आस्तिक नास्तिक सबके अन्तर लगा रहे सन्देह यही,
क्या जानें कैसे, वह जग का कर्त्ता कोई है कि नहीं।
है कि नहीं, इसका कब किसने कहिये किया है ठीक विचार?
इस संशय में भजें न उसको, करते अपना आप बिगार (ड़)।

सेवा क्या होगी बिन जाने सेव्य वस्तु के कहो भला?
लादे डोलो क्यों न ज्ञान के सिर पर रख कर भरे डला।
दुःख यही हा! ढूंढ़-ढूंढ़ कर हमने उसे न पाया है,
लिपट जगत के कपट जाल में मिथ्या जनम गंवाया है।

युग युग योगी कर समाधि जिसका दर्शन नहिं पाते हैं,
पलक मींच, बिन देखे उसको, हम छिन में अकुलाते हैं।
कह देते हैं, है भी, तो है उसका कुछ आकार नहीं,
क्यों न देखते होता तो हम? यही एक कहैं युक्ति सही।

विपद आय पड़ती है जब कुछ तब पुकारते रो-रो कर,
काकु विनय मन ही मन करते, अंसुओं से मुख धो-धोकर।
बिनसे विपद भूल जाते हैं, करने लगते तर्क बड़े,
फिर अपना पुरषारथ जग में कहने लगते खड़े अड़े।

ऐसा कौन कृतघ्नी होगा हाल भूल जो जाता है,
इसी हेतु यह जीव जगत में पद-पद में दुख पाता है।
करो सरल विश्वास छोड़ कर तर्क-कुतर्कों का धन्दा,
देखो, अभी अज्ञता माया का कट जाता है फन्दा।

आस्रो चरण शरण श्रीपति की, करुणा करुणा-निकर करें,
सूना-सूखा हृदय तुम्हारा भक्ति-प्रेम-रस-रास भरें।
बिना किये अनुताप कृपाभाजन कैसे कोई होगा ?
बिना किये मन प्राण समर्पण चिदानन्द किस ने भोगा ?

'मधुसूदन' की यही याचना है सबसे जोड़े जुग कर,
तर्क छोड़, विश्वास बाँध दृढ़, सभी करो हरि पर निर्भर।
वो देखो दो भुजा उठाये तुम्हें अंक भर लेते हैं,
पाप, ताप अपराध दूर कर निज पद छाया देते हैं।

उस त्रिताप-हरनी पद-पंकज छाया में निश्चिन्त रहौ,
अनुभव कर जो झूठ होय तो मुझे एक की लाख कहौ।
तब जानोगे कैसा है, और कहाँ है, उसका क्या आकार,
खुली आँख से देख सकोगे सब उसका लीला विस्तार।

अब उनकी खड़ीबोली की एक व्यंग्यात्मक कविता का नमूना देखिये :

कैप-शूज सम्वाद

बाबूजी की कैप, और बीबीजी की शू
खूंटी अलमारी में से करैं गुफ्तगू।
कैप कहै—मेरे बाबू परम सुन्दर,
शू कहै—मेरी बीबी के खेल के बंदर,
नाचें बाहर-अन्दर।

कैप कहै—मेरे बाबू बी० ए० एम० ए० पास,
शू कहै—मेरी बीबी की पोज़ीशन खास।
जासे बाबू भये दास।

कैप कहै—मेरे बाबू देशहितकारी,
शू कहै—बीबी घर में करें उनकी ख्वारी।
कहैं अकल गयी है मारी।

कैप कहै—मेरे बाबू बड़े बुद्धिमान,
शू कहै—बीबी नित मलें उनके कान—
जब करें अभिमान ।

कैप कहै—बाबू करें एडिटर का काम,
शू कहै—बीबी प्रूफ शोधें बैठी धाम—
जिसका उपन्यास नाम ।

कैप कहै—मेरे बाबू वकालत करैं,
शू कहै—बीबी मेहन्ताना आँट करैं,
बाबू मेहनत करके मरैं।

कैप कहै—मेरे बाबू बड़े डाक्टर,
शू कहै—बीबी की बातें-उन्हीं के अन्तर
चीर-फाड़ के नश्तर ।

कैप कहै—बाबू मजिस्ट्रेट, करें दण्ड,
शू कहै—हमारी बीबी परम प्रचण्ड,
जड़ैं दो चार-चार अंड-बंड ।

कैप कहै—बाबू करें धर्म परचार,
शू कहै—ये सब डंका बजत बहार,
घर में चिनें पाप के भार।

कैप कहै—मेरे बाबू समेटे हैं चन्दा,
शू कहै—अब बहुत थोड़े फंसते हैं फन्दा,
बजार हो गया है मन्दा ।

कैप कहै—बाबू साहब बड़े लेक्चरार,
शू कहै—बीबी के रहे गाली की भरमार,
बाबू रोवें ज़ार-बेज़ार ।

कैप कहै—उदार बाबू जात नहीं माने,
शू कहै—तब ही तो बीबी देती हैं ताने,
कहैं, साफ करो पाखाने ।

कैप कहै—बाबू का मत विधवा विवाह,
शू कहै—बीबी के मन दुगुन उछाह,
मिले फेर नया नाह ।

कैप कहै—पर्दा सिस्टम बाबू को न भावै,
शू कहै—बीबी भी मेरी माथा खोले धावै,
जबै हवाखाने जावै ।

कैप कहै—बाबू कोट पतलून सम्हारा,
शू कहै—बीबी ने लंहगा छोड़ गाउन धारा,
तर्ज दोनों का है न्यारा ।

कैप कहै—हमें बाबू निज शीश आनैं,
शू कहै—कितैक तुमसे हमपै लौटन ठानें,
जब बीबी भौंहें ताने ।

मैं ब्रजभाषा के कवियों के और भी कितने ही उदाहरण दे सकता हूँ जो मूलतः ब्रजभाषा में लिखते थे, किन्तु वे खड़ीबोली में सुन्दर कविता करते थे। इनमें बचनेशजी, और बाद में हितैषी जी तथा उनके गुरु सनेहीजी के नाम आदर से लिये जा सकते हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ सिवाय गोस्वामी राधाचरणजी के और किसीने खड़ीबोली कविता का विरोध नहीं किया। अधिकांश ब्रज-भाषा के कवियों ने ब्रजभाषा में कविता करते रहने के कारण चाहे स्वयं खड़ीबोली में कविता न की हो, किन्तु वे उसके विरोधी भी न थे। उन दिनों ब्रजभाषा काव्य के संस्कार इतने प्रबल थे और खड़ीबोली का आरम्भकाल होने के कारण उसके काव्य में प्रवाह और प्रांजलता भी नहीं आयी थी, इसलिए यदि उन्हें ब्रजभाषा की कविता अधिक रुचिकर थी तो कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु उनमें एक ही भाषा में कविता करने का आग्रह और कट्टरता नहीं थी, जो द्विवेदीजी और उनके अनुयायियों में बाद में आ गयी, और जो अब तो इतनी पुष्ट हो गयी है कि बहुत सी पत्र-पत्रिकाओं ने तो ब्रज-भाषा की कविता न छापने का नियम सा बना लिया है। द्विवेदी

जी ने अपनी 'हे कविते !' नामक कविता में ब्रजभाषा को लक्ष्य कर लिखा था :

अभी मिलेगा ब्रज-मण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही ।
इसीलिए ही भवभूति-भाविते !
अभी यहाँ हे कविते ! न आ, न आ।
बता तुही कौन कुलीन कामिनी,
सदा चहेगी पट एक ही वही ?

किन्तु आज यदि यही तर्क केवल खड़ीबोली कविता करने पर दिया जाय, तो न जाने द्विवेदीजी का उत्तर क्या होता।

अब मैं उन लोगों की बात न करूँगा जो ब्रजभाषा में लिखना आरम्भ करके खड़ीबोली में आये। अब मैं कुछ उन लोगों की चर्चा करूँगा जिनके संस्कार ब्रजभाषा के नहीं थे और जो संस्कृत के विद्वान और हिन्दी के गद्य के भी पंडित और लेखक थे और जिन्होंने कविता में सीधे खड़ीबोली ही के द्वारा प्रवेश किया। ऐसे बहुत से लोग हैं। बाद में इस श्रेणी में वे लोग भी आये जो संस्कृत तो कम किन्तु अंग्रेज़ी या बंगला जानते थे और सीधे खड़ी बोली में कविता करने लगे। किन्तु इस वर्ग के लोग आलोच्य काल के बाद हिन्दी में आये। इसलिए मैं इस अवसर पर उनके संबंध में कुछ कहना असंगत समझता हूँ। उदाहरण तो बहुत दिये जा सकते हैं किन्तु समय की संकीर्णता और आप लोग कहीं 'बोर' न हो जायें, इसलिए मैं केवल पाँच-छः व्यक्तियों की कविताओं के उदाहरण आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा। वे हैं पं० वागीश्वर मिश्र, सत्यशरण रतूड़ी, बिहार के पं० सकलनारायण पाण्डेय (जो कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक थे)। दो मिश्रबन्धु—पंडित माधव प्रसाद मिश्र और पं० राधाकृष्ण मिश्र तथा पं० चन्द्रधर गुलेरी।

इन्हें भ्रमवश हिन्दी साहित्य संसार केवल कहानीकार के रूप में जानता है।

पं० बागीश्वर मिश्र के सम्बन्ध में मेरी जानकारी नहीं के बराबर है किन्तु उनकी कई कविताएँ लड़कपन में पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ी थीं, जिनमें उनकी कविता 'आकाश मण्डल' जो १९०२ में सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, मुझे अपने प्रवाह, शब्द चयन, अनोखे रूपक और विम्ब विधान के कारण बहुत रुची और मैंने उसके कई छन्द कण्ठ कर लियें थे। कविता लम्बी (१०४ पंक्तियों की) थी। मैं उसकी कुछ पंक्तियाँ सुनाता हूँ जिससे आप उसकी भाषा की प्रौढ़ता और प्रवाह का अनुमान लगा सकें:

खड़ा हुआ मैं निकल के घर से,
गगन में तारे चमक रहे थे।
सभी अनोखे, सभी मनोहर,
सभी प्रभा से दमक रहे थे।
अपूर्व गहने, रजत के पहने,
अपार छवि से छमक रहे थे।
मनो प्रतीक्षा करै किसीकी,
इसीसे मग में ठमक रहे थे।
फिरीं जो आँखें उधर अचानक,
मयंक बानक बना के आया।
रहे जो पहले बने रुपहले,
उन्हें सुनहरी छटा दिखाया।
बिचारने वे लगे चकित हो,
बदन में शोभा कहाँसे लाया।
कहाँसे ऐसी अपूर्व झांकी,
स्वरूप अपना कहाँ बनाया ?

यह अर्द्ध वैज्ञानिक कविता थी। इसमें चन्द्रमा के व्यास, उसकी पृथ्वी परिक्रमा का समय आदि का भी संकेत था। विषय-वस्तु

एकदम नयी थी।

पंडित सकलनारायण पाण्डेय हिन्दी में कम कविता लिखते थे। उनकी प्रिय भाषा तो संस्कृत थी। फिर भी उन्होंने कतिपय कविताएँ खड़ीबोली में लिखीं। उनमें से एक मेरे हाथ लग गयी थी। वह एक भक्त का भगवान शंकर के प्रति उपालंभ है। कलकत्ते के पास तारकेश्वर धाम है, जहाँ भगवान शंकर की मूर्ति विराजमान है। पुराने बीमार लोग वहाँ जाकर रात्रि जागरण कर उनका स्तुति पाठ किया करते हैं और कभी-कभी उपवास भी करते हैं। इस कविता में एक पुराने रोगी का उपालंभ कविताबद्ध किया गया है जो काफी दिनों से वहाँ पड़ा हुआ था, पर रोगमुक्त नहीं हो पाया था। इस पृष्ठभूमि में आप इस कविता का आनन्द अधिक अच्छी तरह ले सकेंगे। वह कवित्वमय उपालंभ यह है :

विश्वनाथ ! जगपावन शंकर ! वरदानी ! सर्वज्ञानी !
मैं हूँ निश्चय नाथ भरोसे, क्यों करते आनाकानी ?
स्वीय भक्त का क्लेश देखकर, कब चिन्ता तुमको होगी ?
नीलकंठ ! क्या तनिक न सुनते, बहुत दिनों से मैं रोगी ?

माना, मैंने पाप किया है, दण्ड उसीका भारी है।
क्षमाशील सब तुमको कहते, क्यों निज कीर्ति बिसारी है ?
बात क्षमा की कहै कौन, अब न्याय करो फिर से मेरा,
जो प्रार्थना नहीं सुनोगे तो दूँगा भूखों डेरा।

तुम शरण्य, मैं हूँ शरणागत, यही न्याय की धारा है।
कहाँ प्रतिज्ञा गयी तुम्हारी 'नीच भक्त भी प्यारा है ?
कहीं पुकारो, किसी समय, मैं नहीं कदाचित् हूँ न्यारा,
दीन बचन अपने भक्तों के क्षण भर नहिं सहने हारा।'

कभी-कभी तो बातें मेरी प्रेम भाव से हैं मानी,
नहीं उठाते पलक प्रभो ! अब नयी रीतियाँ हैं ठानी।
अजी ! रूठकर कहाँ जाउगे ? हृदय-कमल में हो मेरे,
किसी में ऐसी हुई शक्ति नहिं, मन भक्तों से जो फेरे।

सुनी कहानी बहुत बड़ी मन दया दिखायी ऐ प्यारे—
आशुतोष! जो तुझे न मानें फिरा करैं मारे-मारे।
चूक-चाकरी हुई नाथ! है, मन अपना बतलाता है,
प्रेम-भाव तो और ढंग की नयी बात सिखलाता है।

पंडित माधवप्रसाद मिश्र को कविता लिखने में प्रयास नहीं करना पड़ता था। १९२६ में जब प्रयाग में कुंभ हुआ तब प्रयाग की सनातन धर्म सभा की ओर से एक बड़ा सनातन धर्म सम्मेलन करने का निश्चय हुआ। उस समय महामना मालवीयजी सभा के अध्यक्ष और मेरे पूज्य पिताजी उसके मंत्री थे। यह भी निश्चय किया गया कि एक महीने के लिए एक दैनिक निकाला जाये, जिसमें सनातन धर्म सम्मेलन सम्बन्धी सूचनाएँ तथा मेले की अन्य सनातनी गति-विधियों के समाचार प्रकाशित किये जायें। मिश्रजी भी सम्मेलन के लिए बुलाये गये थे और सनातन धर्म सभा द्वारा संचालित संस्कृत पाठशाला में (जिसका उद्‌घाटन म्योर कालेज के तत्कालीन प्रिंसिपल प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ डा० थीबो से कराया गया था) इस पत्र के प्रथम अंक के सम्बन्ध में विचार हो रहा था। बात इस पर अटक गयी कि मंगलाचरण में कौन सा श्लोक या पद दिया जाये। जब वादविवाद काफी देर तक चलता रहा तो मिश्रजी को कुछ झुंझलाहट हो आयी और वे बोले, 'मैं मंगलाचरण लिखाता हूँ। लिखो' और उन्होंने ये चार पंक्तियाँ तत्काल बोलकर लिखा दीं, जो खड़ीबोली में थीं :

जो सर्वेश गणेश रूप धर के नाशै सभी आपदा,
जिसकी शक्ति सरस्वती जगत में मेधा बढ़ावै सदा।
बुद्धि-प्रेरक रूप से जगत का कल्याण सारा करे,
सौ दीनैक दयालु देव कलि में सद्धर्म रक्षा करे।

मैं उस समय स्कूल की छोटी कक्षा का विद्यार्थी था। संयोग से मैं वहाँ मौजूद था। वह छन्द मुझे इतना पसन्द आया कि जब वह छपा तब मैंने उसे कण्ठस्थ कर लिया। इस एक छंद से उनकी खड़ी-बोली कविता करने की सामर्थ्य का कुछ आभास होता है। उनका

जीवन उपदेशक के रूप में दूर-दूर की यात्रा करने में बीता। वे प्लेग से केवल ३४ वर्ष की आयु में मर गये। उनकी कविताएँ इतनी बिखरी हैं, कि उनका प्रामाणिक संकलन असंभव है। स्वामी रामतीर्थ के सन्यास लेने पर उनकी 'युवा सन्यासी' नामक कविता बहुत प्रसिद्ध हुई। कुछ लोग उनके भाई (राधाकृष्णजी मिश्र) की कविताओं को उनकी कविताएँ समझते हैं। भाषणों में वे संस्कृत श्लोकों के साथ खड़ीबोली कविताओं की पंक्तियाँ भी कभी-कभी उद्धृत कर देते थे। इससे खड़ीबोली कविता के प्रचार में बड़ा सहयोग मिला।

उनके छोटे भाई राधाकृष्णजी ने भी इन्हींकी तरह अल्पायु पायी। वे विद्वान थे, पर माधवप्रसादजी के समकक्ष नहीं पहुँच सकते थे। वे बंगला अच्छी जानते थे। अंग्रेज़ी से वे भी कोरे थ। बड़ी प्रांजल खड़ीबोली का गद्य लिखते थे। उन्होंने सखाराम गणेश देउस्कर की 'देशेर कथा' का हिन्दी अनुवाद किया था। श्री दिनेश सेन की रामायणी कथा के अनेक पात्रों के बड़े सुन्दर अनुवाद किए थे, जो श्रीराघवेन्द्र में प्रकाशित हुए थे। किन्तु वास्तव में वे कवि थे, और कवि भी ऐसे जिनका खड़ीबोली पर असाधारण अधिकार था। वे समग्र भारत के प्रेम से ही ओतप्रोत न थे, उनका दृष्टिकोण इतना विशाल था कि वे एशिया की दृष्टि से, एशियायी की तरह, देख सकते थ। यूरोपियनों के शिकंजे में आयी हुई एशिया की दशा से वे दुखी थे। उनकी कविताओं की विषयवस्तु अत्यन्त आधुनिक और सामयिक होती थी। वे पौराणिक या कवि सुलभ विषयों-प्रकृति सौन्दर्य, प्रेम आदि पर कविता नहीं लिखते थे। वे संसार और देश की घटनाओं के जागरूक प्रेक्षक थे। रूस-जापान युद्ध में जापानी नौ सेना ने रूसी बाल्टिक फ्लीट को नष्ट कर दिया, पंजाब में भीषण भूकम्प आया—ऐसी घटनाएँ उनकी कविता के स्रोत को खोल देती थीं। लार्ड कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के कनवोकेशन में एक बार यह कह दिया था कि हिन्दुस्तानी झूठे होते हैं, अवसर आने पर इसकी भी वे अपनी कविता में आलोचना करने से न चूके थे। उनका देश-प्रेम व्यापक था—उत्तर के वीरों का

गुणगान करके ही उन्हें संतोष नहीं होता था। उन्होंने शिवाजी, उनके गुरु समर्थ रामदासजी, पेशवा आदि पर भी कविताएँ लिखीं। 'एशिया के प्रति भारत' आदि कविताएँ उनके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण की परिचायिका थीं। अब मैं आपको उनकी कविताओं के कुछ नमूने सुनाता हूँ, जिनसे आप स्वयं उनकी भाषा, भावों, शैली और अभिव्यक्ति की शक्ति पर अपना स्वतंत्र मत बना सकें। पहले एक अत्यन्त सरल कविता का उदाहरण देता हूँ। 'देशेर कथा' का अनुवाद उन्होंने 'देश की बात' के नाम से किया था। उसकी भूमिका के आरम्भ में उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखीं। वह पुस्तक पिताजी के संग्रह में थी, पर इस समय वह मुझे नहीं मिली। किन्तु मुझे वे पंक्तियाँ आज भी याद हैं। मैं उन्हें याददाश्त से सुना रहा हूँ :

पाठकगण ! निज हृदय खोलकर पढ़ो देश अपने की बात,
निर्दयता से हुआ किस तरह पुण्यभूमि भारत का घात !
जो चढ़ता है, सो गिरता है, पर गिरकर जो चढ़े नहीं,
उस ऐसा अपशोच्य जगत में ढूंढ़े मिलता मनुज नहीं।

बुद्धिमान कन्दुक सम गिर कर बेर-बेर ऊपर आते,
वृत्तहीन मृत्पिण्ड सदृश गिर तुरत धूल में मिल जाते।
उठते हैं वे वीर पुत्र जिनको पितरों का है अभिमान
नहीं उठाने से उठते वे जारज, कायर, मृतक समान।

पैरों पर गिर ठोकर खाना, यह कब हमको प्यारा था ?
उठना, और उठाना सबको, यह एक काम हमारा था।

इसकी भाषा की सरलता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता और खड़ीबोली की प्रांजलता आप स्वयं-देख सकते हैं। अब उनकी शिवाजी संबंधी कविता सुनिए :

साहूसुत शिवराज छत्रपति ! जो तुम नहिं लेते अवतार,
आर्यवंश की विजय-पताका फिर नहिं उड़ती किसी प्रकार।

थी किसमें सामर्थ्य भला, जो यवनेश्वर से करे विवाद ?
प्राण निकलने लग जाते, उसके प्रताप को करके याद।

लोक-विदित रघुकुल-नन्दन जो वीर यहाँके प्यारे थे,
विपतिकाल को देख बने वे भी जिसके रखवाले थे।
कछवाहे, राठौर, भट्टकुल, सुभट और चौहान, पंवार
मान चुके थे जिसे नरेश्वर-पति अपना, सब बिना विचार।

उस औरंगजेब के सम्मुख भगवा ध्वजा उड़ाता कौन ?
संन्यासी सर्वोपरि हैं—यह वैदिक तत्व बताता कौन ?
दुःशासन औरंगजेब को भीम-पराक्रम दिखला के,
बदला लिया वीर ! तुमने समरांगण में अवसर पाके।

जब तक शेष रहेंगे हिन्दू, जब तक सूर्य शशी का धाम,
नहीं मिटेगा कभी मिटाये वीर ! तुम्हारा जग से नाम।

उनकी एक कविता 'पंजाब का भूकम्प' उनकी शैली, भाषा और समवेदनशील हृदय तथा सामयिक घटनाओं पर उनके हृदय की प्रतिक्रिया की प्रतिनिधि है। वह कविता लम्बी है। उसमें २३ चार पंक्तियों वाले छंद हैं। मैं उनमें से केवल कुछ आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह भूकम्प १९०४ के अन्त में आया था और इसका केन्द्र कांगड़ा था। हजारों लोग मर गये थे और काँगड़ा तथा कितने ग्राम नष्ट हो गये थे :

उन्नत मस्तक, सुरगणपूजित, पूत, हिमालय श्रृङ्ग,
शोभित जिसके वक्षस्थल पर पंच पयोधर गंग।
हुए विश्व-भय-हरण वीरवर सुत जिसके विख्यात,
वीर-मात ! वह वेद-विदित तेरा क्यों कम्पित गात ?

प्रबल मुहम्मद गोरी ने जब किया अतुल संग्राम,
जिसमें आये पृथीराज से वीरपुत्र तव काम।
हुआ रक्त-कर्दममय जब हा ! दृशद्वती का तीर,
एक बार भी हुआ न कम्पित तब तब कठिन शरीर।

पुण्यपुंज ! तेरे वपु पर कितने ही कई प्रकार,
म्लेच्छराज आये गर्वित हो करने कुपद प्रहार।
लुंठित देश, भग्न देवालय, हुए ध्वंस द्विजवंश,
तब भी तेरा कम्पित होता देखा एक न अंग।

धर्मवीर गुरु तेग बहादुर सम अनेक असहाय,
काटे गये सिक्ख-जननी ! जब निर्दोषी निरुपाय,
निरपराध जीवित बालक जब चिने गये निश्चिन्त,
अचला ! हुई न सचला तब भी, रही देखती, हन्त !

हे भारत की द्वार-भूमि ! अगणित ही अत्याचार,
सहन कर चुकी, श्रवण कर चुकी निज सुत हाहाकार।
किन्तु आज तक हुई न माता ! ऐसी कभी अधीर,
हे मुनिजन-जननी ! कह दे क्यों तेरे नयन सनीर ?

प्रतिदिन प्रसरणशील, अचानक चरित-मरण का योग,
अंगवेग को देख हुआ क्या अब तेरे यह रोग ?
समर भूमि में मरे न उतने किसी देश के बीच,
जितने यहाँ रोग के कारण सोये आखें मीच।

क्षुधित, दीन, दुर्भिक्ष-दलित सुतगण को अपने पास,
देख सकी नहिं दयावती ! क्या यों मन उपजी त्रास ?
अंध, क्लिष्ट, निज क्षीण कलेवर रख लेती है आप,
किन्तु टूक उर के कर देती देख पुत्र सन्ताप।

फिर कर्जन के कनवोकेशन भाषण को लक्ष्य कर कहते हैं:

प्रभु कर्जन ने छात्रवृन्द को दिया असत् उपदेश
सत्यमूर्ति ! क्या सहन हुआ नहिं उसका दुःसह क्लेश ?
हो सकती है सहन इतर लोगों की कुटिल कुरीति,
बड़े जनों की सही न जाती कल्मषभरी कुनीति ।

ऐनी बीसेन्ट उन दिनों हिन्दुओं को गीता पढ़ाती थीं:

विश्व बीच विख्यात सरस्वति से जो विश्रुत देश,
उसे म्लेच्छ रमणी देती है, दम्भ सहित उपदेश।
क्या यह देखा नहीं गया, इसलिए उठी तू डोल ?
उलटफेर से सभी जगह पर हो जाता है गोल।

भूकम्प पीड़ितों की सहायता के लिए १५ लाख की अपील निकाली गयी थी, पर पूरे १५ लाख नहीं मिले—

जहाँ धनिकजन देशदशा की भूल चुके सब बात,
जहाँ रोगगण डेरा डाले रहते हैं दिन रात।
उसी देश पर हाय! कम्प ने ऐसा किया प्रहार,
कहा किसीने सच कि 'मरे को मारैं शाह मदार।'

जिनके लिए भीख नृप माँगें, हुए खजाने राख,
हाय! अभागों के हित तो भी मिले न पंद्रह लाख।
जिन पर नीरद नीर न बरसै, जिन्हें न कुछ आमोद,
धरणी! उन्हें उचित थी मिलनी तेरी प्यारी गोद।

भारत ही की नहीं, संसार की महत्वपूर्ण घटनाओं के प्रति वे कितने जागरूक थे, वह उनकी एक दूसरी 'टोगो की विजय भेरी' नामक कविता प्रकट करती है। रूस-जापान युद्ध में साइबीरिया के पास के सागर में रूसी जल सेना जापानी जल सेना की अपेक्षा बहुत कम थी। इसलिए जापानी सेना जहाजों द्वारा जापान से कोरिया होकर मंचूरिया आसानी से पहुँच जाती थी, जहाँ स्थल युद्ध हो रहा था। अपनी जल सेना की वहाँ कमी दूर करने तथा जापानी जल सेना को नष्ट करने के लिए रूस ने अपना शक्तिशाली लड़ाकू बेड़ा, जो सेंटपीटर्सबर्ग के पास के समुद्र में रहने के कारण बाल्टिक फ्लीट कहलाता था, यूरोप, अफ्रीका, हिन्द महासागर और चीन सागर को पार कर कोरिया भेजा। जापानी नौसेना ने एडमिरल टोगो की कमान में उसका सामना करके उसे नष्ट कर दिया। यह संसार के निर्णायक जल युद्धों में गिना जाता है और सुशिमा या

काशिमा के युद्ध के नाम से याद किया जाता है। इतिहास में पहली बार एक एशियायी देश ने रूस ऐसी विशाल यूरोपीय शक्ति की नौसेना को इस बुरी तरह परास्त किया था। इससे प्रबुद्ध भारत-वासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई थी। किन्तु उस समय हिन्दी कवि प्रायः राजनीति-निरपेक्ष थे। जागरूक और संवेदनशील राधाकृष्ण मिश्र ने उसी जल युद्ध को लक्ष्य कर एक कविता लिखी थी। वह कविता यह है:

अति उमंग से भरा त्वरित गति आतिताप निज ध्वजा उड़ाता,
अवलोकन जब किया बाल्टिक फ्लीट रूस का निकट में आता।
रण-विजयी जापान केसरी एड्मिरल टोगो विचार करके,
लगा सुनाने निज वीरों को वीर वक्तृता पुकार करके।

उठो एशिया के बहादुरो! उठो देश के जगानेवालो!
उठो विदेशी प्रवंचकों से जन्मभूमि को बचानेवालो।
उठो हृदय का रक्तदान कर कायरपन को हटानेवालो,
उठो भाइयो! पूर्व तेज से पाश्चमात्य तम मिटानेवालो।

उठो भाइयो! ये सन्मुख देखो विदेशी आये तुम्हें डुबोने,
स्वदेश की प्रिय सुकीर्ति के संग, स्वतंत्रता को भी जड़ से खोने।
कृत्य आज का समर में या तो-रूस देश को अमर बना दे,
सजीव सन्तान एशिया की, या तो फिर बस यही दिखा दे।
रूसनाथ का घमंड सारा सदा काल के लिए मिटा दे,
सत्यसिन्धु वीरेश मिकाडो मत्सहितो ही को या लजा दे।

बहा चुके वीर रक्त अपना, कटा चुके सिर असंख्य भाई,
परन्तु संसार जानता है न पीठ तुमने कभी दिखायी।
जो आज जीते तो हो चुकी बस विजय सदा के लिए तुम्हारी,
विजय मिली फिर तो एशिया को, फड़क उठेगी ध्वजा हमारी।

यही हैं जो एशिया में आकर अनर्थ भारी मचाते जावें,
यही हैं जिनके लिए हमारी असंख्य विधवा रुदन मचावें।

सुवीर नोगी के पुत्रहन्ता यही हैं, इनको यहीं डुबाना,
न भूल जाना, न भूल जाना, न भूल जाना, न भूल जाना।

'पराधीन सपने सुख नाहीं', कहा किसीने ये सच वचन है,
न दिन में कल है, न रात निद्रा, सशंक मन, सप्रकम्प तन है।
पराजितों को सदा विजेता दबाते जाते, दया न खाते,
प्रजा बनाकर भी हाय! उनका शिकार करते नहीं लजाते।

मिला जुला कर खराब कर दें मनुष्य, जो कामकाज के हों,
राजद्रोही कहें उन्हें जो हितैशी अपने समाज के हों।
स्वतंत्रता से न बोलने दें, न बात लिखने दें जी की भाई,
नियम के बंधन में बाँध दें यों गऊ को बाँधे हैं ज्यों कसाई!

जीव-जन्तु नभ, जल, थल के जो स्वतंत्रता से विहार करते,
धन्य उन्हें, धिक्कार मनुज जो पराधीन हो पुकार करते!
विधाता चाहे बना दे पक्षी, परन्तु प्यारी स्वतन्त्रता हो,
सच्चा सुख है उसी जगह पर, जहाँ हमारी स्वतन्त्रता हो।

इसीके कारण बड़े हुए तुम, प्रवीण जापान है मनस्वी,
इसीसे सद्वृत्तिवर मिकाडो नरेशमण्डल में हैं यशस्वी।
इसी से देखो, बहादुरो! अब कृपाण अपनी तुरत सम्हालो,
घुमा दो तोपों के मुँह उधर को, कसक हृदय की सभी निकालो।

फ्रांस देश का प्रसिद्ध बेड़ा किया नेलसन ने ध्वस्त जैसे,
भग्न मग्न कर दिया रूस का, सुवीर टोगो ने ठीक वैसे।
महायुद्ध काशिमा सदा एशियाखण्ड का बढ़ावे गौरव,
मिले सुयश वरवीरभूमि को, इसी तरह से सदा ही अभिनव।

इसमें ध्यान देने योग्य तीन बातें हैं—एक तो देश-प्रेम से ओत-प्रोत और परतन्त्रता की भावना से कसकता हुआ हृदय, तथा अभिव्यक्ति की निर्भीकता। जिस समय अंग्रेजों का प्रताप सूर्य मध्यान्ह में था, उस समय ऐसी बातें कहना जैसी ऊपर के प्रथम तीन छंदों में कही गयी है, कितना साहस का काम था

दूसरी, उस युग में खड़ीबोली की अभिव्यक्ति की सामर्थ्य और उसकी प्रांजलता। और तीसरी बात यह कि यह कविता एक ऐसे व्यक्ति ने लिखी है जो अंग्रेज़ी नहीं पढ़ा था और आजकल की भाषा में 'सनातनधर्मी पोंगा पंडित' था। खड़ीबोली कविता को उन्होंने किस ऊंचाई पर पहुँचा दिया था, उसको आप स्वयं देख सकते हैं।

अब हम ऐसे दूसरे कवि को लेते हैं जो ब्रजभाषा के संस्कार से मुक्त थे और सीधे खड़ीबोली में आये थे। वे थे पं० सत्यशरण रतूड़ी जो गढ़वाल के निवासी थे। वे संस्कृतज्ञ थे। मैं ठीक तरह से नहीं जानता कि उनका अंग्रेज़ी का ज्ञान क्या था। उन्होंने दर्जनों कविताएँ लिखी थीं। मैं उनकी केवल एक कविता के कुछ नमूने आपको दूँगा जो सरस्वती में १९०४ में छपी थी। विषय-वस्तु, शैली और भाषा, तीनों ही, ध्यान देने योग्य हैं। कविता का शीर्षक है 'बुलबुल':

प्रभात ही सुन्दर बैन मीठे,
सुहावने तू नित बोलती है।
प्रसूनशाली वन बाग बीच,
सुडालियों में नित डोलती है।

पड़े-पड़े बिस्तर में प्रभात,
खुली नहीं है जब आँख मेरी।
सूर्य-प्रभा की प्रथमा दशा में,
देती सुनाई तब तान तेरी।

कभी-कभी पुष्पित आम डाल पै,
समीप के पीपल पै कभी-कभी।
कभी-कभी दाड़िम के द्रुमों पै,
तू खेलती है वन में सदैव।

पी-पी प्रसूनासव मत्त होके,
तुरन्त ही तू नित नाचती है।
महा सुरीले स्वर से पुनः पुनः,
बता, किसे नित्य पुकारती है?

अन्त के दो छन्द ये हैं:

आयी क्या तू सतनु उड़के स्वर्ग की वाटिका से,
भोगैश्वर्य्य-प्रणय सुख का त्याग सारा सुवास?
आशा-तृष्णा-रहित मन से शान्त एकान्त वृत्ति–
से जो तूने विजन वन में ही किया है निवास?

होता आकर्षित मन अहो! गान आनन्दकारी–
तेरा प्रातः समय सुनके, मंजु-माधुर्यकारी।
जारी होता जल नयन से, अंग में स्वेद आता,
है क्या तेरी यह जगवशीकारिणी शक्ति भारी!

अब हम खड़ीबोली के एक ऐसे दूसरे कवि की चर्चा करेंगे जो ब्रजभाषा के संस्कारों से मुक्त थे, संस्कृतज्ञ थे और जो अंग्रेज़ी की भी उच्च शिक्षा प्राप्त थे। वे थे पं० चन्द्रधर गुलेरी जो हिमाचल प्रदेश के निवासी थे और जिनकी शिक्षा काशी में हुई थी। हिन्दी संसार उन्हें केवल कहानीकार के रूप में जानता है, यद्यपि उन्होंने केवल तीन कहानियाँ लिखी थीं। उन्होंने बीसों उच्चकोटि के निबन्ध लिखे थे, और तीस-चालीस कविताएँ लिखी थीं, किन्तु मूलतः न वे कहानीकार थे, न निबन्धकार और न कवि। वास्तव में वे संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित और पुरातत्ववेत्ता तथा इतिहास के विद्वान थे। किन्तु खड़ीबोली कविता में राधाकृष्ण, माधवप्रसाद मिश्र आदि की तरह उन्होंने द्विवेदी युग और मैथिली-शरण के सर्वमान्य प्रतिष्ठित कवि होने के पूर्व बड़ी परिनिष्ठित और प्रांजल खड़ीबोली में कविता लिखी थी। उनमें कई अंग्रेज़ी व बंगला के स्वतंत्र भावानुवाद थे, किन्तु वे इतने सुन्दर थे कि मौलिक मालूम पड़ते थे। अच्छा अनुवाद फिट्ज़जेरल्ड के उमर ख़य्याम के अनुवाद की तरह उस भाषा की समृद्धि करता है जिसमें वह किया जाये। किन्तु अच्छा अनुवाद—जो मूल काव्य मालूम हो—बिरले ही कर सकते हैं। उनकी 'आहिताग्निका' एक बंगला कविता से प्रेरित है। 'वैनकवर्न का युद्ध' एक अंग्रेज़ी कविता का अनुवाद है। 'विदा'

कार्लाइल की 'ऐड्यू' नामक कविता के आधार पर लिखी गयी थी। 'झुकी कमान' भी एक अंग्रेजी कविता से प्रेरित थी। उन्होंने मौलिक कविताएँ भी लिखी थीं। यहाँ मैं उनके दो-एक भावानुवादों और एक मौलिक कविता का उदाहरण देकर उनकी खड़ीबोली कविता के अधिकार के उदाहरण आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

पहले 'आहिताग्निका' के कुछ छंद सुनिये। उन्होंने 'आहिताग्निका' को स्पष्ट करते हुए टिप्पणी में लिखा था—'आहिताग्निः अपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां इष्टिं निर्वषेत्।' वास्तव में यह भारतमाता के प्रति है, जिसने स्वराज्य प्राप्ति का संकल्प स्वदेशी आन्दोलन के युग में कर लिया था। उसमें ११ छंद हैं। मैं नमूने के रूप में ६ छंद ही सुनाऊँगा :

प्रतिज्ञा की तूने अति कठिन उत्साहभरिते !
निभाओगी कैसे धन-जन-धरा-धान्य रहिते ?
अखण्ड ज्योती जो अब यह जगाई, भगवती !
सदा पा लोगी क्या तन-मन उसे दे गुणवती ?

सहोगे ताने भी ? क्षुर-सम धरा पै चल रही,
न घूमेगा माथा, प्रतिपद चढ़ाई बढ़ रही ?
न पीछे भागोगी ? नहिं भय-मिलें सर्प पथ में ?
डरावेंगे भालू-कुजन-रिपु, सिंहादि वन में ।

स्वधा, स्वाहा को तू प्रति समय ठीक कह के,
न प्रायश्चित्तीया बन कभि अपभ्रंश कह के।
कहाँ घी पावैगी ? अब सुखद गो-वंश न रहा,
ढकेगी काहे से सरस तनु जो कोमल महा ?

मिलेगी रेजी तो, यदि वह नहीं, वल्कल सही,
कलेजे में वेदी रच, यह प्रतिज्ञाग्नि धर ली।
विलासों की मज्जा हवि बनेगी सहज में,
सदा स्वार्थों को तू बलि-पशु करेगी हृदय में ।

उजाला देवेगी प्रबल हठ की ज्योति तुझको,
घृणा के झोंके भी नहिं कर सकैं मन्द उसको।
बढ़े ही जाना तू, नहिं चरण भी एक हटना,
जलाना ज्योती को, विजय-गिरि पै जाय डटना।

वहाँ, आत्म-स्वार्थ-प्रवण-मन का होम करना,
विरोधों के आगे, पण सम, निज प्राण धरना।
यहीं इच्छा है? जा भगवति! भला हो तब सदा,
हमारा भी होगा तब चरण में मंगल सदा।

विदा नाम की कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिये और उसकी शैली की बहार लीजिये :

अदृष्ट औ काल मिलैं, मिलैं, मिलैं,
अदृष्ट औ काल मिलैं, मिलैं, मिलैं,
स्वर्गीय काष्ठागत प्रेम जो बनै।
वही तुम्हारा मुझसे बना हुआ,
प्रिये! हमारा तुमसे लगा हुआ।

कुमार्ग औ दुःख भरा, भरा, भरा,
कुमार्ग जो दुःख भरा, भरा, भरा,
वियोग क्यों? प्राण वही, शरीर दो।
नहीं मिलेंगे, अब तो कभी नहीं,
प्रिये! मिलेंगे अब तो कभी नहीं।

कुदैव ऐसा मिलने न दे, न दे,
कुदैव ऐसा मिलने न दे, न दे,
आमोद का मोद रहै सदैव सा।
तथापि लो आज सलाम अन्त की,
प्रिये! यही आज सलाम अन्त की।

एक और अंग्रेज़ी से प्रेरित कविता 'झुकी कमान' है। जिस प्रकार भारत में रण-निमंत्रण के लिए पान का बीड़ा भेजा जाता था, उसी प्रकार यूरोप में सामन्ती युग में उसके लिए एक झुकी हुई कमान भेजी जाती थी। किन्तु गुलेरीजी ने उस मूल कविता को कितनी सफलता से भारतीय परिवेश में ढाल दिया है, यह देखकर आश्चर्य होता है। यह किसी अंग्रेज़ विद्वान के इस कथन का कि we translate ideas, not words का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसीलिए यह कविता मौलिक हो गयी है, विचार भले ही अंग्रेज़ी कविता से लिया गया हो। तो उनकी 'झुकी कमान' सुनिये :

आये प्रचण्ड रिपु शब्द सुना उन्हींका,
भेजी सभी जगह एक झुकी कमान।
त्यों युद्ध चिह्न समझे सब लोग धाये,
औ साथ ही कह रही यह व्योमवाणी—

पहले किसानों के पास गयी—

सुना नहीं क्या रण-शंख-नाद ?
चलो, पके खेत किसान ! छोड़ो।
पक्षी इन्हें खाँयं, तुम्हें पड़ा क्या ?
भाले भिड़ाओ, अब खड्ग खोलो।
हवा इन्हें साफ किया करेगी,
हो रक्त से लाल न देश छाती।

स्वाधीन का सुत किसान सशस्त्र दौड़ा,
आगे गयी धनुष के संग व्योमवाणी।

शिकारियों के पास पहुँची :

छोड़ो शिकारी ! गिरि का शिकार
उठा पुरानी तलवार लीजै।
स्वतंत्र छूटें अब व्याघ्र भालू,
पराक्रमी और शिकार कीजै।

बिना सताये मृग चौकड़ी लें,
लो शस्त्र, हैं शत्रु समीप आये।

आया सशस्त्र-तज के मृगया अधूरी,
आगे गयी धनुष के संग व्योमवाणी।

सामन्तों के पास पहुँची :

ज्यौनार छोड़ो सुख की रईसो!
गीतान्त की बाट न वीर! जोहो।
चाहे घना झाग सुरा दिखावे,
प्रकाश में सुन्दरि नाचती हो।
प्रासाद छोड़ो, सब छोड़ दौड़ो,
स्वदेश के शत्रु अवश्य मारो।
सर्दार ने धनुष ले, तुरही बजायी,
आगे गयी धनुष के संग व्योमवाणी।

राजाओं और क्षत्रियों के पास पहुँची :

राजन्! पिता की तव वीरता को,
कुंजों, किलों में सब गा रहे हैं।
गोपाल बैठे जहं गीत गावैं,
या भाट वीणा झनका रहे हैं।
अफीम छोड़ो, कुल-शत्रु आये,
नया तुम्हारा-यश भाट पावें।
बन्दूक ले नृप-कुमार बना सुनेता,
आगे गयी धनुष के संग व्योमवाणी।

ब्राह्मणों के पास पहुँची :

छोड़ो अधूरा अब यज्ञ, ब्रह्मन्!
वेदान्त-पारायण को बिसारो।

विदेश ही का बलिवैश्वदेव,
औ तर्पणों में रिपु-रक्त डालो !
शस्त्रार्थ शास्त्रार्थ गिनो अभी से,
चलो, दिखाओ 'हम अग्रजन्मा ।'

धोती संभाल, कुश छोड़, सशस्त्र दौड़ा ।
आगे गयी धनुष के संग व्योमवाणी ।

नागरिकों के परिवारों में पहुँची—

माता ! न रोको निज पुत्र आज,
संग्राम का मोद उसे चखाओ ।
तलवार, भाले भगिनी ! उठा ला,
उत्साह-भाई निज को दिलाओ ।
तू सुन्दरी ! ले प्रिय से बिदाई,
स्वदेश माँगे उसकी सहाई !

आगे गयी धनुष के संग व्योमवाणी,
है सत्य ही विजय, निश्चित बात जानी ।
है जन्मभूमि जिनको जननी समान,
स्वातंत्र्य है प्रिय जिन्हें शुभ स्वर्ग से भी ।
अन्याय की जकड़ती कटु बेड़ियों को,
विद्वान वे कब समीप निवास देंगे ?

यह कविता आज भी सार्थक है। जर्मनी के युद्ध-गीत 'राइन रक्षक' की तरह यह देश का युद्ध गीत हो सकता है। १६०५ में स्वतंत्रता के ऐसे सन्देश को इस ओजपूर्ण भाषा में देना तथा देश के शौर्य को जागृत करने का प्रयत्न कितना साहस का काम और कितनी उदात्त भावनाओं से प्रेरित था !

अब हम उनकी एक मौलिक कविता के साथ गुलेरीजी पर अपना कथन समाप्त करेंगे। १६०५ में प्रिन्स आफ वेल्स (जो बाद में जार्ज पंचम हुए) अपनी युवराज्ञी मेरी (जिसका लघु रूप 'मे' है)

के साथ भारत आये थे। भारतेन्दु के समय से चलती आयी परम्परा के अनुसार उनके स्वागत में अनेक कविताएँ लिखी गयीं। गुलेरी जी ने भी एक कविता लिखी। वह उनके देश-प्रेम, भारत की लांछित और अवनत दशा की तीव्र कसक से भरी हुई है। उसमें महीन व्यंग्य है। ब्रिटिश राजण्य वर्ग के आने पर उनका दरबार होता था। इसे 'लेवी' भी कहते थे। इसमें नरेश और उनके राजकुमार परिचारकों या चोबदारों का काम करते थे। देखिये गुलेरीजी का यह अनूठा, व्यंग्यात्मक, विचारोत्तेजक और साहसपूर्ण स्वागत ! इसमें आरम्भ में 'कृटीक' शब्द आया है। अंग्रेज़ी में दो शब्द हैं 'क्रिटिक' और 'क्रिटीक' पहले का अर्थ आलोचक और दूसरे का अर्थ समीक्षात्मक निवन्ध है। छंद में 'क्रिटिक' शब्द नहीं बैठता था। लघु के स्थान में गुरु की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने कवि की स्वच्छंदता का उपयोग करके क्रिटिक के स्थान पर क्रिटीक लिखा है। उनका इंगित उन पाश्चात्य और उनके अनुगामी भारतीय आलोचकों से है जो वेद के वायु, वरुण आदि देवताओं को देवता न मान कर हवा और जल की शक्ति के प्रतीक मानते हैं। वे लोग भारत के गौरव की पुरानी बातों को कवियों की कल्पना-प्रसूत अतिशयोक्तियाँ कहते थे और उन्हें सत्य नहीं समझते थे। कृटिक या कृटीक से उनका तात्पर्य उन्हीं लोगों से है। शेष बातें इतनी स्पष्ट हैं कि आप लोगों के समान विद्वानों को उन्हें समझाने की आवश्यकता नहीं है। राजकुमार का यह स्वागत शार्दूलविक्रीड़ित छंद में है जिसका श्लेष अंत में प्रकट होता है:

जो जो देव 'क्रिटीक' की कतरनी से हैं बचे आज लौं,
जो प्राचीन महत्व 'गप्प सब है' से भी बचा आज लौं।
गंगा में जल पम्प वा नहर से जो है बचा आज लौं,
श्रीमन् राजकुमार! मंगल सदा तेरा करें वे सभी।
सोते क्षार समुद्र में हरि सदा, ब्रह्मा डटे शून्य में,
मेरे शंकर हैं श्मशान बसते धारे हुए रुद्रता।

आओ सर्व-सुरेश-रूप ! तुमको खारा सदा दुःख से,
जीर्णारण्य, श्मशान, शून्य कहता मैं मूक भी 'स्वागतम्।'

घूमे थे जब ट्राँसवाल अथवा आस्ट्रेलिया, कैनडा,
'हुर्रे रूल ब्रिटानिया' सब कहीं गाया सुना आपने।
मैं भी उत्सव हर्ष में यदि कहूँ 'वन्दे प्रियाम् मातरम् !'
हो जाता वह कर्णशूल कुछ को, हा हन्त ! कैसे कहूँ ?

प्रिन्सेज मे ! युवराज जारज ! वही है देश पैरों तले,
सर्वोत्कृष्ट महत्वयुक्त जिसकी मानी गयी सभ्यता।
विद्या फ़ारिस, ग्रीक, चाल्डिक तथा रोमादिकों ने पढ़ी,
माना है सबने गुरू गणित का, ले काम में 'हिन्दसे।'

ये वो देश नहीं जहाँ नृप चढ़े स्वच्छंदता की बली,
जो आदर्श नृपाल, वे सब यहाँ पूजे गये विष्णु से।
'राजा ही जगदीश है' यह कभी चार्वाक सिद्धांत था
माना है हमने, तथापि अभयाशा नृपों से नहीं।

है लोकोक्ति 'बहू ! त्वदीय घर है, छूना नही किन्तु' यों
आये हो, इससे विरुद्ध सब ही हूँ देखता भाग्य को।
अग्नी स्वागत में लगी, सब कहीं दुर्भिक्ष फैला पड़ा,
श्रीमान् फूलरजंग भी गरजते बंगालियों पै सदा।

तो भी प्लेग छिपाय, काल ढँक के, घोंटा असंतोष को,
माँगे शाल, ढँका, प्रसन्न बन के, कंगाल कंकाल को।
आँसू पोंछ, कहूँ सुहास्य मुख से 'आओ, पधारो यहाँ।
लाखों मंगल सर्व-मंगल करें, जोड़ी बनी ही रहे।"

जो विद्या, वह राजपुत्र ! तुमको 'एड्रैस' देने खड़ी,
जो धीरत्व, कुमार ! आज वह ही छाता लिये है खड़ा।
लक्ष्मी जो कुछ है सभी वह लगी दीपावली में अभी,
या चन्दे लिखती फिरे सब कहीं जो आप आये यहाँ।

जो तलवार, कुमार ! आज वह भी बूटों तले आपके,
अच्छा हो यदि सात टूक करके वो आप पै वार दें।
है स्वातंत्र्य नहीं, तथापि उसकी छाया खड़ी सोचती,
'ऐसा तो न कहूँ कुमार जिसको विद्रोह माने कहीं।'

'लेवी' से अभिमान आज अपना सम्मान है मानता,
जो सद्वंश, सुवश्य वो अरदली या चोबदारी करें।
आयी हैं गृहलक्ष्मियाँ सब करें प्रिन्सेस की आरती,
देखो, केवल 'ताज' एक बढ़िया बेताज के पास है।

माना रत्न मुझे प्रधान सबने इंग्लैण्ड के ताज में,
माने कंकड़ सा कुमार ! मुझको जो न्याय माँगू कभी।
औरों का मुख देखता थक गया, चाहूँ बनाना स्वयं
मैं वस्त्रादि, कुमार ! देवि ! कह दो, रोके न कोई मुझे।

यह छंद शार्दूलविक्रीड़ित है। अन्त में गोरे लोगों की ब्यूरोक्रेसी की ओर इंगित करते हुए समाप्त करते हैं। युवराज को सिंह बना के रूपक खड़ा किया है:

राजा हैं सब घासपात, कुचलो चाहो, न खाओ कभी,
मिट्टी हैं हम, रौंद दो, पर प्रभो ! खाओ हमें भी नहीं।
खोदें जो वृक, रीछ, जम्बुक बने भाई सभी आपके——
गैंडे वा गज हैं न ? खूब करिये शार्दूलविक्रीडितम्।

यह है स्पष्टवादिता, चुभते हुए व्यंग्य, आत्म-सम्मान को ठेस लगने से पीड़ित हृदय की कसक, साहस और भाषा के लालित्य, ओज तथा प्रांजल खड़ीबोली का नमूना। राधाकृष्ण मिश्र और चन्द्रधर गुलेरी से आगे अभिव्यक्ति में खड़ीबोली ने अवश्य ही कुछ उन्नति की, पर वह कितनी है ? और यदि हम इनकी खड़ीबोली की प्रौढ़ता, अभिव्यक्ति की शक्ति यह याद रख कर देखें कि वह द्विवेदीजी और गुप्तजी के प्रतिष्ठित होने से पूर्व की रचनाएँ हैं तो हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। जब स्वयं श्रीधर पाठक, द्विवेदीजी और गुप्तजी की आरंभिक खड़ीबोली की कविताओं में ब्रजभाषा का पुट

तथा चिन्त्य प्रयोग देखने को मिलते हैं तब उनके उत्कर्ष से पूर्व की इन प्रांजल खड़ीबोली की कविताओं को देखकर आश्चर्य होता है। वास्तव में इन लोगों ने इस शती के दशक के पूर्वार्द्ध ही में खड़ीबोली की अभिव्यक्ति की शक्ति को भलीभांति प्रमाणित कर दिया था।

अब एक ऐसे कवि की चलती हुई चर्चा करूँगा जो उर्दू से ब्रजभाषा में और खड़ीबोली में आये थे। वे थे बाबू बालमुकुन्द गुप्त। वे मूलतः पत्रकार थे और उनकी कविताएँ विशेषकर सामयिक विषयों पर होती थीं। उपर्युक्त कवियों ने हास्य नहीं लिखा और जहाँ व्यंग्य भी किया है वहाँ बहुत महीन। पर गुप्तजी खुल कर हास्य लिखते थे। उनके हास्य की एक विशेषता यह थी कि वे भारतीय ढंग से—टेसू या होली आदि के अवसर पर हास्य लिखते थे। अब तो बहुत से हिन्दीवाले यह भी न जानते होंगे कि टेसू क्या है? सर सैयद अहमद ने काँग्रेस का विरोध किया था। इस पर 'सर सैयद का बुढ़ापा' नाम की उन्होंने एक लम्बी कविता खड़ीबोली में लिखी थी। इसी प्रकार लार्ड कर्जन के वंग-भंग करने और उसके परिणामस्वरूप स्वदेशी आन्दोलन के होने पर उन्होंने 'कर्जनाना' नाम की एक व्यंग्यपूर्ण कविता लिखी थी। उनकी हास्य रस की कविताओं में 'भैंस का स्वर्ग', 'भैंस की मृत्यु', 'गुरु-शिष्य सम्वाद', 'तानसेन' काफी लोकप्रिय हुईं। किन्तु उनकी भाषा बोलचाल की खड़ीबोली थी। उत्तर प्रदेश के तत्कालीन ले० गवर्नर सर एण्टनी मैक्डानल ने उत्तर प्रदेश की कचहरियों में फ़ारसी लिपि के साथ नागरी लिपि के प्रयोग की अनुमति निकाली। यह सरकारी आदेश अप्रैल १६०० में निकला था। उर्दूवालों ने उसका बड़ा विरोध किया और वायसराय से उसे रद्द कर देने की अपील भी की। लखनऊ के अवध पंच ने उर्दू की हिमायत में एक लम्बी कविता छापी थी। गुप्तजी ने 'भारत मित्र' के २८ मई के अंक में इसका बड़ा मजेदार उत्तर छपाया था। बिना 'उर्दू की अपील' को पढ़े, उसके उत्तर की बारीकियाँ समझ में न आयेंगी। दोनों ही कविताएँ काफी लम्बी हैं, पर वे उर्दूवालों के नागरी अक्षरों के विरोध के कारण एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विवाद

की कड़ियाँ हैं। इनके लम्बे आकार के कारण मैं इन्हें नहीं सुना रहा। किन्तु आपमें से यदि किसीको उनमें रुचि हो तो मैं उन्हें उपलब्ध कर सकूँगा। उनकी कविता के दो नमूने देता हूँ। पहले 'कर्जनाना' के कुछ छंद सुनिये:

झांझ झमाझम, ढोल धमाधम कौन बजाता आया,
सब कुछ उलट पलट कर डाला सब संसार हिलाया ?
'वह मैं ही हूँ' झट से यों श्री कर्जन ने फरमाया,
'आलीशान पुरुष हूँ, मुझ सा कभी कौन है आया ?'

किसने बंगभूमि को दो टुकड़े कर दिखलाया,
किसने बेरहमी से भाई-भाई को बिछड़ाया ?
बोले कर्जन, 'इसका कर्ता हूँ, बस मैं ही अकेला।'

किसने मैनचेस्टर को सड़कों पर टकराया,
किसने मलमल औ कपड़ों को आँधी में उड़वाया ?
'किया है मैंने' बोले कर्जन 'रंज करेगी चैम्बर,
भूत भरें इसका हरजाना जब पहुंचूँ अपने घर।'

किसने देशी चीजों में फिर संचय प्राण कराया ?
किसने सब तूफान बखेड़ों को याँ से उड़वाया ?
किसने सब बाबू लोगों का नेशन एक बनाया ?
'किया तो है, पर इच्छा से नहिं' कर्जन ने फरमाया।

शायद इतनी गंभीर कविताएँ सुनते-सुनते आप ऊब गये होंगे। अतएव आपके मुँह का मजा बदलने के लिए आपको कुछ हलकी-फुलकी कविताएँ सुनाऊँगा। स्वामी विवेकानन्दजी संन्यासी हो गये थे और अमरीका में उन्होंने वेदान्त का झंडा खड़ा कर दिया था। वेदान्त का मूल मंत्र यह है कि सब संसार एक ब्रह्म का ही रूप है। गुप्तजी से किसी ने बतलाया कि स्वामीजी अमरीका में अंडा खाने लगे हैं। वे जाति से बंगाली कायस्थ थे। अतएव वैसे तो उनका अंडा खाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, किन्तु वे वहाँ संन्यासी होकर

गये थे। इसलिए उनका अंडा खाना गुप्तजी को अच्छा न लगा। उन्होंने यह कविता लिखी :

चेलागण बचन

यती जी, इसका खोलो भेद।
अंडा भला कि मंडा बाबा, आंत भली या मेद,
बिस्कुट भली कि सोहन हलुआ, बकबक भली कि वेद ?

बाबाजी बचन

जो अंडा सो ही ब्रह्मंडा यामे नाहीं भेद,
दोनों अच्छे समझो बच्चो, वही आँत वही मेद।
वेद का सार यही है, बुद्धि का पार यही है,
मिले तो बिस्कुट चक्खो, मिले तो अंडा भक्खो।

अब उनकी एक कविता सुनाता हूँ। इसमें समय-विपर्यय है। पता नहीं कि आप विद्वान ऐसी कविता को हिन्दी में क्या नाम देंगे। उपहास्य, हास्यास्पद, परिहास योग्य, मजाकिया, हासोत्पादक, असंभव, असंगत, विचित्र, बेतुकी, बेसिरपैर की या बेढंगी, क्या कहेंगे ? जो भी हो, यह कविता बेढंगी या बेसिरपैर की है। उन्हें शास्त्रीय संगीत के आलाप, तराना, गिटकरी आदि से ऊब आती थी और वे इस प्रकार के संगीत का जनक तानसेन को समझते थे। यह भी प्रसिद्ध था कि दीपक राग गाने से दीपक जल उठते हैं, अग्नि उत्पन्न हो जाती है, मल्लार गाने से पानी बरसने लगता है। उसीको लक्ष्य कर उन्होंने यह बेढंगी, बेतुकी और बेसिरपैर की कविता लिखी :

यह आप जानते हैं, विक्रम था एक राजा,
दरबार नौरतन से था उसका जगमगाता।
था तानसेन भी एक उस्ताद पूरा पूरा,
दरबार में वह उसके एक रोज आन पहुँचा।
अर्थात् उस जगह वह सचमुच ही जा पहुँचता,
पर क्या करे, वह तब तक पैदा नहीं हुआ था।

तब तानसेनजी ने की रेल की सवारी,
पूछा तो कहा अब है कलकत्ते की तयारी।
भाड़े की गाड़ी लेकर, हुगली के पुल से होकर,
एक ठाठ से गया वह विक्रम के घर के भीतर।
अर्थात् वह निश्चय ही विक्रम के घर पै जाता,
पर क्या करे कि तब तक पुल ही नहीं बना था !

कलकत्ते की भी उस समय तक कुछ भी न थी निशानी,
उज्जैन में थी उस दम विक्रम की राजधानी।

तब तानसेन अपनी विद्या लगा दिखाने,
एक खूब सा पियानो लेकर लगा बजाने,
अर्थात् वह पियानो अच्छी तरह बजाता,
पर क्या करै वह बाजा तब तक नहीं बना था।

जो हो, फिर उसने डट कर ऐसा मलार गाया,
दरबार भर को उसने राजा सहित भिजाया।
फिर इसके बाद दीपक इस धुन से उसने छेड़ा,
जल-भुन के बस वहीं पर उसका मिटा बखेड़ा।
अर्थात् सब ही निश्चय खाते वहाँ पै गोता,
और तानसेन खुद भी जलभुन के खाक होता।
राजा के पास था पर वाटरपुरूफ़ अच्छा,
और तानसेन पहले उठकर चला आया था।

तब ही से गीत उसके हैं सबके मुँह पै जारी,
उस्ताद हो गया वह सबकी नजर में भारी।
करते हैं श्राद्ध उसका मिलजुल के सब गवैये,
अर्थात् उसके गीतों का है वो श्राद्ध करते।
वह तो था मुसल्माँ कहती थी उसकी सूरत,
उसके लिए भला थी क्या श्राद्ध की जरूरत ?

शास्त्रीय संगीत गानेवालों के अतिरिक्त इसमें उन लोगों पर प्रत्यक्ष व्यंग्य है जो वेदों में रेल, तार, विमान आदि की

चर्चा होने का दावा करते हैं। इसमें कालदूषण की अच्छी छटा है।

मैंने आपसे पहले ही यह बतला दिया है कि गुप्तजी उर्दू से हिन्दी में आये थे। वे संस्कृतज्ञ नहीं थे। पर पक्के सनातनधर्मी थे। उनमें राजनीतिक चेतना भी प्रखर थी, चूकि मैंने इस भाषण में पत्रकारिता के सम्बन्ध में कुछ न कहने का निश्चय किया है इसलिए उनके अखबारी गद्य के बारे में मैंने कुछ नहीं कहा, यद्यपि उनका 'शिवशंभु का चिट्ठा' शायद हिन्दी में अपने ढंग की प्रथम राजनीतिक रचना है। किन्तु आप लोग समझ सकते हैं कि उनके संस्कृतज्ञ न होने के कारण उनकी खड़ीबोली राधाकृष्ण मिश्र, चन्द्रधर गुलेरी, सकलनारायण पाण्डेय, मधुसूदन गोस्वामी आदि से भिन्न है। वह उस समय की 'चलती' खड़ीबोली की एक अनोखी शैली है। इसीलिए यद्यपि कवि के रूप में उनका ऊँचा स्थान नहीं है, तथापि उस समय ऐसी भाषा में कविता की जाती थी, इसे बतलाने के लिए, मैंने इनकी कविता के उदाहरण देने आवश्यक समझे।

उस समय शंकरजी, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, हरिऔधजी, रामचरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा नवरत्न, मन्नन द्विवेदी, सनेहीजी, आदि अनेक कवि खड़ीबोली में कविता करते थे। किन्तु ये सब इतने प्रसिद्ध हैं कि समयाभाव के कारण मैं उनके बारे में जानबूझकर कुछ नहीं कह रहा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं उनकी अवज्ञा कर रहा हूँ या उनके कृतित्व को महत्वपूर्ण नहीं समझता।

ऊपर के उदाहरणों से आप देखेंगे कि खड़ीबोली कविता के क्षेत्र में दो तरह के लोग आये—एक तो वे जिन्होंने ब्रजभाषा से कविता आरम्भ की और दूसरे वे जो सीधे खड़ीबोली में लिखने लगे। बालमुकुन्द गुप्त एक अपवाद हैं जो उर्दू से हिन्दी में आये और वे अन्त तक कभी ब्रजभाषा और खड़ीबोली में लिखते रहे। दोनों प्रकार के कवियों की कविताएँ देखने के बाद मुझे ऐसा मालूम होता है कि जो संस्कृतज्ञ सीधे खड़ीबोली में आये उनकी भाषा अधिक

परिमार्जित थी। उनकी शैली अधिक स्पष्ट थी और उनकी कविताओं की विषय-वस्तु में विविधता और सामयिकता थी। ब्रजभाषा से खड़ीबोली में आने वालों की कविता में--कम से कम आरम्भ में काफी समय तक, ब्रजभाषा का पुट आ जाता था। मैं केवल द्विवेदी युग के आरम्भ तक ही की बात कह रहा हूँ जिसे मैंने आरम्भ ही में कह दिया है कि मैं उसका आरम्भ १६०८ से मानता हूँ। इसलिए उससे पूर्व की खड़ीबोली की कविताओं की ही चर्चा कर रहा हूँ। संस्कृतज्ञ या कोरे हिन्दी जाननेवाले कवियों ने तत्कालीन ज्वलन्त समस्याओं और घटनाओं पर अधिकतर लिखा। ब्रजभाषा से आने वाले उस समय के खड़ीबोली के कवि अन्योक्तियाँ, ऋतु वर्णन, महाभारत, रामायण या अन्य संस्कृत काव्यों आदि पर आधारित विषयों पर ही अधिकतर लिखते थे। समाज सुधार और देशभक्ति पर ब्रजभाषा से आये हुए कवियों ने उस समय बहुत कम लिखा। द्विवेदीजी ने दुर्भिक्ष, कान्यकुब्जों की दहेज प्रथा और विधवाओं की दुर्दशा पर अवश्य कुछ लिखा था, किन्तु वह अधिकतर संस्कृत या ब्रजभाषा में था। सब बातें देखते हुए उनका क्षेत्र संकुचित था। शंकरजी समाज सुधार पर आर्यसमाजी दृष्टि से कुछ लिखते थे। वे प्रकृत कवि थे और उन्होंने ब्रजभाषा में कुछ बड़े सरस छंद लिखे हैं। किन्तु आर्यसमाज के प्रभाव के कारण उनकी समाज सुधार संबंधी कविताएँ सरस या प्रभावोत्पादक नहीं हो सकीं। यद्यपि आर्यसमाज ने खड़ीबोली गद्य के प्रचार में बड़ा काम किया तथापि शायद अति बुद्धिवादी होने और खण्डन-मण्डन में व्यस्त रहने के कारण उसने उन दिनों कवि उत्पन्न नहीं किए। बुद्धिवाद के नीरस मरुस्थल में काव्य उत्पन्न करने योग्य सरसता कैसे हो सकती है? दूसरा एक कारण शायद यह भी था कि उस समय तक जो उपलब्ध काव्य था वह या तो भक्ति संबंधी था या शृंगारिक। एक से तो वे सिद्धान्ततः दूर रहते थे। कृष्ण या राम भक्ति के काव्यों में अवतारवाद, मूर्ति-पूजा आदि होने के कारण वे अग्राह्य थे। प्योरिटन होने के कारण शृंगारिक कविता उनको पसन्द नहीं आ सकती थी। इसलिए उनमें

काव्य की परम्परा नहीं पनप पायी और इसमें आश्चर्य नहीं कि आर्यसमाज ने कम से कम उन दिनों कोई भी अच्छा कवि उत्पन्न नहीं किया। उनमें उत्सवों के समय भजनीकों को बुलाया जाता था किन्तु भाषा और काव्य की दृष्टि से उनके शायद ही कोई भजन साहित्य जगत में समादृत हुए हों। ये भजनीक प्रायः स्वयं भजनों की रचना करते थे और उनका हिन्दी-ज्ञान बहुत स्वल्प होता था। उसमें कविता नहीं हो सकती थी। अतएव खड़ीबोली काव्य में उस युग में आर्य-समाज का योगदान नहीं के बराबर है। इसी प्रकार ईसाई पादरियों ने व्याकरण तथा कुछ प्रचारात्मक गद्य पुस्तकें तो तैयार की थीं, किन्तु उन्होंने पद्य लिखने का प्रयत्न भी नहीं किया। हिन्दी काव्य में उनका योगदान शून्य है।

यहाँ मैं कुछ विषयान्तर करके आपको कुछ पीछे ले जाना चाहता हूँ। पंडित श्रीधर पाठक ने जब 'एकान्तवासी योगी' लिखा तो उसकी एक प्रति सम्मति के लिए प्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी श्री फ्रेडरिक पिनकाट को लन्दन भेजी। उन्होंने उसकी प्राप्ति स्वीकृति और सम्मति देते हुए अपने २६ जुलाई १८८८ के पत्र में पाठकजी को जो पत्र लिखा उसमें तत्कालीन हिन्दी साहित्य और कविता के बारे में ये वाक्य भी थे : My remarks on mediocre Indian poetry, are directed against wearisome twaddle which amuses the idle by rhyming sounds but gives no instruction whatever. Most Indians have a notion that literature means poetry, and that prose is a confession of ignorance and incapacity. This notion impels every one who can wield a pen to rush to poetry whether he has any aptitude for it or not. Nevertheless in the midst of the rubbish there are some beautiful pieces of excellence and tender poetry. Such pieces are production of natural poets, and it is only real poets who ought to attempt to write poetry"—पत्र के अन्त में वे कहते हैं : "Hindi wants good prose writers in order to make it national language."

वास्तव में १८८८ में एक अंग्रेज़ विद्वान के द्वारा हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात कहना अपूर्व, आश्चर्यजनक और उसके भविष्यदर्शी होने की क्षमता का परिचायक है। पिनकाट ने तत्कालीन स्थिति का प्रायः यथार्थ वर्णन किया है। यदि उस समय तक के प्रकाशित गद्य साहित्य का लेखा-जोखा लिया जाय तो उनके कथन की वास्तविकता स्पष्ट हो जायेगी क्योंकि उस समय गद्य साहित्य प्रायः स्कूलों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर या धार्मिक दृष्टि से लिखा जाता था। उसके बाद भारतेन्दु के प्रोत्साहन से १९०२ आते-आते हिन्दी गद्य ने जो उन्नति कर ली थी उसका कुछ आभास मैं दे चुका हूँ। अतएव यहाँ उस पर अधिक कुछ कहना अनावश्यक है। किन्तु कविता के क्षेत्र में यद्यपि पुरानी कविता चल रही थी, क्योंकि परम्परा देर से नष्ट होती है, फिर भी पुराना कूड़ाकबाड़ गायब होने लग गया था। पिनकाट के बाद से जो कविता-साहित्य निकाला गया उसका एक अच्छा अंश सार्थक, ओजस्वी और साहित्य एवं भाषा की दृष्टि से कहाँ से कहाँ पहुँच गया था। संभव है कि प्रचार के अभाव में पिनकाट साहब को उसका परिचय न हो। श्रीधर पाठक यदि अपना 'एकान्तवासी योगी' उनके पास न भेजते तथा इंग्लैण्ड और भारत के पत्रों में उसकी आलोचना न कराते तो शायद वह भी जंगल में नाचनेवाले मोर की तरह अज्ञात ही रह जाता। ब्रजभाषा काव्य अपनी पुरानी परम्पराओं को तोड़कर हिन्दू जागरण और नवयुग की आवश्यकताओं के अनुसार अपने को ढाल रहा था। ब्रजभाषा कविता की विषयवस्तु बहुत बदल गयी थी, और उसके अनुसार वह अभिव्यक्ति की शैली और शब्दावली में भी परिवर्तन कर रही थी। किन्तु जब खड़ीबोली गद्य ने उन्नति की और उसका परिमाण और गुण में विकास हुआ तब श्रद्धाराम फुल्लोरी से आरम्भ कर ब्रजभाषा संस्कारों से रहित माधवप्रसाद मिश्र, राधाकृष्ण मिश्र, चन्द्रधर गुलेरी आदि संस्कृतज्ञों ने उसमें कविता करके खड़ीबोली कविता में जो प्रौढ़ता और प्रांजलता ला दी उसकी समानता उस समय के ब्रजभाषा के खड़ीबोली में आये हुए कवि अपनी कविताओं

में विचाराधीन अवधि तक शायद ही कर पाये हों। ब्रजभाषा के कवियों में अंबिकादत्त व्यास ने जो मार्ग दर्शन किया उसका अनुकरण किशोरीलाल गोस्वामी, मधुसूदन गोस्वामी आदि ने भी किया, यहाँ तक कि मुझे प्रेमघनजी के भी कई छन्द खड़ीबोली में मिले हैं। किन्तु साहित्य जगत में खड़ीबोली को आदर के स्थान पर प्रतिष्ठित करने का कार्य मूलतः ब्रजभाषा के कवि श्रीधर पाठक ने किया, और उनसे प्रभावित और प्रेरित होकर महाबीरप्रसाद द्विवेदी तथा मैथिलीशरण गुप्त ने ब्रजभाषा छोड़कर खड़ीबोली कविता का इतना प्रचार किया कि ब्रजभाषा पिछड़ गयी और हिन्दी कविता जगत में खड़ीबोली की तूती बोलने लगी। वह हिन्दी कविता की प्रायः सर्वमान्य भाषा १६०८ तक हो गयी। इसके बाद उसकी शैली और विषयवस्तु आदि में जो परिवर्तन हुए उनकी चर्चा मेरे क्षेत्र से बाहर है।

द्विवेदीजी ने सरस्वती के शक्तिशाली माध्यम और अपने अनुयायियों की सहायता और समर्थन से अन्त में ब्रजभाषा को साहित्य जगत से निकाल बाहर करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की और उनके बाद जो पीढ़ी आयी उसके संस्कार खड़ीबोली ही के थे। अतएव वह दिनोंदिन उन्नति करने लगी। किन्तु यह सोचना भूल होगी कि ब्रजभाषा कविता एकदम समाप्त हो गयी। आप जानते हैं कि खड़ीबोली के उत्कर्ष काल में रत्नाकरजी के ब्रजभाषा काव्य 'उद्धव शतक' और 'गंगावतरण' कितने लोकप्रिय हुए। सनेहीजी, हितैशीजी, अनूपजी आदिसमर्थ कवि जो मूलतः ब्रजभाषा के कवि थे यद्यपि खड़ीबोली में भी कविता करने लगे थे तथापि उन्होंने द्विवेदीजी और मैथिलीशरण की तरह ब्रजभाषा को एकदम तिलांजलि नहीं दे दी थी। यही बात कुछ अंश तक खड़ीबोली के आधुनिक प्रवर्तक श्रीधर पाठक के लिए भी कही जा सकती है। वे कभी ब्रजभाषा के विरोधी नहीं हुए—हो भी नहीं सकते थे। क्योंकि यदि 'एकान्तवासी योगी' लिखने के बाद वे केवल खड़ीबोली को अपनाते तो बाद में काश्मीर सुषमा, हिमालय आदि कृतियों को न रचते।

यह समझ लेना भी भूल होगी कि अब ब्रजभाषा कविता एकदम समाप्त हो गयी है। मध्य प्रदेश, राजस्थान और प्रायः सारे उत्तर प्रदेश से मेरा सम्पर्क रहा है। आधुनिक बड़े साहित्यकारों--विशेषकर आजकल उनसे भी अधिक प्रभावशाली विश्वविद्यालयों के हिन्दी प्रोफेसरों से मेरा सम्पर्क बहुत कम है। अतएव मैं उनके बारे में तो कुछ नहीं कह सकता--यद्यपि पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल', पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं० भगीरथ मिश्र आदि के समान अब भी ब्रजभाषा के विदग्ध विद्वान और पंडित कहीं-कहीं मिल जाते हैं। किन्तु जहाँ तक जनता--मेरा आशय सामान्य हिन्दीप्रेमी शिक्षित या अर्द्धशिक्षित लोगों से है--अब भी ब्रजभाषा नहीं छोड़ सकी। मुझे ऐसे सैकड़ों व्यक्ति आजकल भी मिलते हैं जिन्हें रहीम, कबीर, बिहारी और वृन्द के दोहे, देव, भूषण, पद्माकर, रसखान, घनानन्द के छंद और गिरिधर की कुंडलियाँ कंठस्थ हैं और वे लोग उनमें रस लेते हैं। किन्तु मुझे ऐसे दस प्रतिशत व्यक्ति भी नहीं मिलते जिनके कंठों में जयशंकर प्रसाद, पंत और निराला की खड़ीबोली की कविता उतर गयी हो। जब फैजाबाद और गोरखपुर डिवीजनों के स्कूलों की इन्सपेक्टरी का चार्ज मेरे पास था तब मैं एक बार बस्ती गया था। तब महाकवि द्विजेशजी जीवित थे। उन्होंने मेरे सम्मान में एक कवि-गोष्ठी की। आगत कवियों की संख्या लगभग सौ थी, और मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि उन सबों ने ब्रजभाषा ही की कविताएँ सुनायीं। यही अनुभव मुझे एक बार सीतापुर में भी हुआ। याद रहे कि ये ब्रजभाषा के क्षेत्र नहीं हैं। यह हिन्दी-हितैषियों के गम्भीरता से सोचने की बात है कि विश्वविद्यालय से प्राइमरी स्कूलों तक की पाठ्य-पुस्तकों में प्रायः खड़ीबोली कविताएँ पढ़ाने और हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में ब्रजभाषा के प्रायः पूर्ण बहिष्कार के बावजूद क्यों ब्रजभाषा आज भी लोगों के कंठ में है, और क्यों इतने व्यापक रूप से खड़ीबोली की कविता इन लोगों के कंठों में नहीं उतरी ? 'भारत भारती' के कुछ अंश किसी समय, और बाद में बच्चन के कुछ गीत अवश्य लोगों के कंठों में उतरे।

किन्तु अनेक विश्वविद्यालयों के स्नातकों को भी उन कवियों की ही कविताएँ बहुत कम याद होती हैं जिन्हें वे अपना प्रिय कवि बतलाते हैं और जिनको विश्वविद्यालयों, कालेजों और स्कूलों में उन्होंने पढ़ा है। वास्तव में देखा जाय तो आज शिक्षित और अर्द्ध-शिक्षित वर्ग में साहित्यिक श्रेष्ठ कवियों की कविताओं की अपेक्षा फिल्मी गीत अधिक प्रचारित हैं। उच्च हिन्दी काव्य के प्रचार, प्रसार और लोकप्रियता की दृष्टि से यह प्रश्न मेरी समझ से काफी महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में मेरे अपने कुछ विचार हैं, किन्तु चूंकि उसमें १९०८ के बाद की कविता की चर्चा अनिवार्य होगी, इसलिए वह इस भाषण की परिधि से बाहर है, और यह अवसर उन विचारों को व्यक्त करने का है भी नहीं।

मैंने आपके सामने १८५७ से १९०८ तक का (जिसे मैं आधुनिक हिन्दी का आदिकाल मानता हूँ) एक संक्षिप्त विहंगावलोकन प्रस्तुत करने का बड़े डरते-डरते साहस किया है। एकेडेमी के आरम्भिक वर्षों की बात छोड़ भी दें जब बड़े दिग्गजों ने इसे अपने भाषणों से गौरवान्वित किया था, श्री राव साहब और पं० उमाशंकर शुक्ल के संचालन में आपने डा० देवेन्द्र शर्मा, डा० बाहरी, डा० देवराज के गम्भीर और विद्वतापूर्ण भाषण सुने हैं। इन दो मित्रों का मुझ ऐसे व्यक्ति को निमंत्रित करने का उद्देश्य शायद यह हो कि वे एक असाहित्यकार और अप्रोफेसर व्यक्ति को, जो केवल हिन्दी प्रेमी और हिन्दी कार्यकर्त्ता है, अपना दृष्टिकोण आपके सामने रखने का अवसर दें। आप लोग जो हिन्दी के विद्वान हैं और विद्वानों के गंभीर भाषण सुनने के अभ्यस्त हैं, अवश्य मुझ ऐसे अल्प हिन्दी ज्ञाता की बकवास से (जिसने कभी हिन्दी पढ़ी नहीं और जो साहित्य-कार भी नहीं है) यदि ऊब गये हों तो मैं आपको दोष नहीं दूंगा। इसका उत्तरदायित्व सर्वश्री राव और शुक्ल का है। किन्तु मुझे इस प्रकार गौरवान्वित करने के लिए उन्हें, और कृपापूर्वक मेरी बकवास को इतनी देर तक सहन करने के लिए मैं आपका अत्यन्त आभारी हूँ।

अन्त में मैं आपकी अनुमति से दो एक सुझाव देना चाहता हूँ। हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के लिए जो हिन्दी-उर्दू संघर्ष हुआ और अब हिन्दी-अंग्रेज़ी विवाद हो रहा है, तथा उसके रूप को लेकर तथा हिंन्दी व्याकरण सम्बन्धी जो विवाद हुए हैं, वे मेरी सम्मति में बड़े ऐतिहासिक महत्व के हैं। अभी तक उनको जाननेवाले कुछ लोग शायद मिल भी जायँ, यदि जानने वाले न मिलें तो उनसे निकट होने के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष मौखिक या लिखित जानकारीवाले लोग भी उपलब्ध हो सकें, किन्तु एक-दो दशक बाद यह कार्य बहुत कठिन हो जायेगा। अतएव चाहे हिन्दुस्तानी एकादमी, चाहे अन्य कोई गैरसरकारी संस्था (जो किसी बाद या दल से न बंधी हो) इस काम को हाथ में ले।

मेरा दूसरा सुझाव यह है कि १८५७ से लेकर प्राय: १९०८ तक प्रयाग, बनारस, मथुरा और आगरा में हिन्दी की अनेक पुस्तकें निकलीं। हम उनके बारे में प्राय: कुछ नहीं जानते। मेरे व्यक्तिगत संग्रह में इलाहाबाद की एक दर्जन से अधिक प्रेसों की छपी कुछ पुस्तकें हैं। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि प्रयाग के हिन्दी आन्दोलन के प्रथम कार्यकर्ता और प्रसिद्ध साप्ताहिक 'प्रयाग समाचार' के जन्मदाता पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी ने पूरी बाल्मीक रामायण का पद्यबद्ध अनुवाद किया था जिसके बड़े आकार के कई खण्ड मेरे पास हैं। जगन्नाथ शर्मा राजवैद्य का धार्मिक यंत्रालय, इलाहाबाद प्रेस, यूनियन प्रेस आदि दर्जनों प्रेसों में सैकड़ों ही छोटी-बड़ी पुस्तकें निकलीं। इनसे पता लगता है कि उस युग में—उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में—प्रयाग ने हिन्दी साहित्य संवर्द्धन में कितना महत्वपूर्ण योगदान किया। पुस्तकें पुरानी होने के कारण अधिकांश या तो नष्ट हो गयी हैं या यत्रतत्र निजी लोगों के संग्रहों में बिखरी पड़ी हैं। भारती भवन में शायद उनका कुछ संग्रह हो। किन्तु निजी लोगों से सम्पर्क स्थापित कर तथा पुरानी प्रेसों के वारिसों से मिलकर बहुत सी पुस्तकें मंगनी लेकर उनकी एक प्रदर्शनी की जा सकती है, जिससे हमें हिन्दी के

लिए उस कठिन युग में हिन्दी के उन्नयन में प्रयाग का योगदान मालूम हो सके। चूँकि मैं स्वयं इलाहाबादी हूँ और यह सुझाव इलाहाबाद ही में दे रहा हूँ, इसलिए इस कार्य का आरम्भ यहीं से करने का सुझाव रखता हूँ।

इसी प्रकार काशी में उस युग में लाजरस साहब का मेडिकल हाल प्रेस, चन्द्रप्रभा प्रेस, भारत जीवन प्रेस आदि शायद प्रयाग से भी अधिक छापेखाने थे, और विद्या का प्राचीन केन्द्र होने के कारण इन प्रेसों में हिन्दी की बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तकें छपी थीं। वे भी बिखरी पड़ी हैं। शायद संस्कृत वि० वि० के सरस्वती भवन, कार्माइकेल लाइब्रेरी और नागरी प्रचारिणी सभा में उनमें से बहुत सी संग्रहीत हों। भारतेन्दु की नगरी के रईस अपने साहित्य प्रेम के लिए सदैव प्रसिद्ध रहे हैं। वहाँकी जनता भी अधिक साहित्य-संचेत्य रही है। अतएव वहाँ निजी संग्रहों या घरों में इन पुस्तकों के बड़ी संख्या में मिलने की आशा है। वहाँ भी एक ऐसी प्रदर्शनी होनी चाहिए।

इसी प्रकार आगरा (विशेषकर सिकंदरा मिशन प्रेस), मथुरा और दिल्ली की छपी इस युग की पुस्तकों की भी प्रदर्शनियाँ की जानी चाहिए।

प्रदर्शनी के समय यदि संस्थाएँ और उत्साही शिक्षित हिन्दी प्रेमी सहयोग करें तो उन पुस्तकों की वर्णनात्मक सूची तैयार कर ली जाये जिसमें उनके लेखकों और प्रकाशकों एवं मुद्रकों के नाम, प्रकाशन के वर्ष, विषय तथा उनका अति संक्षिप्त सार भी हो। यह भी सूचित किया जाय कि पुस्तक अमुक संग्रहालय या पुस्तकालय या व्यक्ति के पास है।

लखनऊ तथा अन्य नगरों में भी ऐसा ही कार्य किया जा सकता है। इस तैयारी के बाद जो लोग इस युग की साहित्य और उसकी गतिविधियों में रुचि लेना चाहेंगे, उनका कार्य सरल हो जायेगा।

विश्वविद्यालय यदि इन्हें शोध का विषय बना लेंगे तो बहुत परिणाम न होगा। इधर कई वर्षों से मुझे अनेक मुद्रित शोध-निबन्धों

को देखने के सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों ही—हुए हैं। शोध विद्यार्थी का मुख्य लक्ष्य पी–एच० डी० प्राप्त करना होता है। प्रोफेसर सामान्यतः (सब नहीं) शोध की टेक्नीक पर अधिक ध्यान देते हैं। वे अनावश्यक रूप से भारी भरकम, और इसलिए प्रायः अपठनीय होते हैं। मेरे एक Cynic या सनकी मित्र कहा करते हैं कि थीसिस का निर्णय तौल कर किया जाता है। दूसरे, बहुत से मार्ग-दर्शक प्रोफेसरों को अनेक कारणों से ऐसे विषयों का मार्गदर्शन करना पड़ता है, जिनका स्वयं उन्होंने विशेष और गम्भीर अध्ययन नहीं किया। तीसरे, बेचारे शोधकर्ता २४।२५ वर्ष के ही या कुछ अधिक के होते हैं। उन्होंने पढ़ा तो है पर 'गुना' नहीं। अतएव उनमें समीक्षक और नीरक्षीर विवेक की प्रौढ़ता नहीं आती। बहुश्रुत या बहुपठित न होने के कारण उस वय या अवस्था में वे प्रस्तुत सामग्री पर गम्भीर विचार नहीं कर सकते। अवश्य ही कुछ शोध-ग्रन्थों को देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है, और शोधकर्ता के परिश्रम को ही नहीं, उसकी पैठ, सूझबूझ और विस्तृत ज्ञान की प्रशंसा करनी पड़ती है। किन्तु अधिकांश शोध-ग्रन्थ अति सामान्य होते हैं। कोई-कोई तो बड़े निराशाजनक होते हैं। मैंने एक शोध-ग्रन्थ प्रतापनारायण मिश्र पर देखा। उसके मार्ग दर्शक इतने बड़े विद्वान थे कि उनका नाम सुनते ही आदर से मस्तक झुक जाता है। किन्तु मैंने देखा कि मिश्रजी की कविताओं के नमूने में मेरी एक पुरानी खड़ीबोली की कविता दी हुई है जो मिश्रजी की भाषा से किसी प्रकार मेल नहीं खाती। अतएव जिन कार्यों को कराने का मैं सुझाव दे रहा हूँ वह प्रौढ़, बहुपठित और बहुश्रुत विद्वानों का काम है।

दूसरा निवेदन मुझे यह करना है कि हमें हिन्दी के भंडार को ज्ञान-विज्ञान के साहित्य से समृद्ध करना है। किन्तु आज साहित्यकार का अर्थ बहुत संकुचित हो गया है। वह केवल सर्जनात्मक साहित्य लिखनेवालों के लिए प्रयुक्त होता है। आज जो उपन्यास, कहानी, नाटक, कविता, ललित निबन्ध या विद्वत्तापूर्ण समीक्षा लिखता है, वही 'साहित्यकार' माना जाता है। यह सर्जनात्मक साहित्य (समीक्षा

को छोड़कर) मूलत : कल्पना प्रसूत है। कविता की तरह ही उपन्यास, नाटक और कहानी में कुछ ठोस आलंबन के आधार पर कल्पना ही मुख्य रूप से काम करती है और इसलिए मूलतः वह प्रकृति से कविता का ही दूसरा रूप है।

अब तो नाट्य रूपक भी लिखे जाने लगे हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो नाटकों, उपन्यासों, कहानियों, बैले आदि में, कल्पना प्रसूत होने के कारण, प्रतीकों, रूपकों, व्यंग्य, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का समावेश होता है। पिनकाट के शब्दों में बहुत सी ऐसी कृतियों में भी twaddle देखने को मिल जाता है। शायद साहित्यकार की इस प्रकार की परिभाषा करने में मेरे विद्वान मित्र सही हों, किन्तु तब डा० बेनीप्रसाद, डा० गोरखप्रसाद, डा० ब्रजमोहन, डा० कृष्ण दत्त वाजपेयी, डा० बलदेव उपाध्याय, डा० वासुदेव उपाध्याय, डा० भगवतशरण उपाध्याय और शायद डा० वासुदेव शरण अग्रवाल भी साहित्यकारों की श्रेणी में न गिने जायँ। किन्तु मुझ में साहित्यिक विवाद की प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए मैं इस पर बहस न करूँगा। अतएव मैं हिन्दी साहित्य के स्थान में 'हिन्दी वाङमय' का प्रयोग करूँगा। सर्जनात्मक साहित्य के महत्व और आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी मैं नम्रतापूर्वक निवेदन करूँगा कि अब हिन्दी संसार को ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकों से हिन्दी को समृद्ध करने के लिए हिन्दी-वाङमय के निर्माण पर अधिक बल देना चाहिए। साहित्य की इसी धारणा के कारण हम महेन्दुलाल गर्ग की 'चीन में तेरह मास', एक सैनिक लेखक ठाकुर गदाधर सिंह का 'रूस-जापान युद्ध', बलदेवप्रसाद मिश्र के टाड के राजस्थान के अनुवाद, भारत जीवन द्वारा प्रकाशित बर्नियर की भारत यात्रा, मेरे पिताजी का 'वारेनहेस्टिंग्ज़', गौरीशंकर हीराचन्द ओझा की 'प्राचीन लिपि माला' और उनका बृहद्, राजस्थान का इतिहास, जयचन्द्र विद्यालंकार के 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' सदृश अनेक ग्रन्थों और उनके लेखकों को भूल गये। सर्जनात्मक साहित्य किसी भी भाषा का मेरुदण्ड होता है। इसमें सन्देह नहीं। किन्तु

साहित्य देवता को हाथ, पैर और जीवनी शक्ति देने के लिए सर्जनात्मक साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान, नाना प्रकार के संदर्भ ग्रन्थों आदि की भी आवश्यकता होती है। इन सबका बीजवपन आधुनिक हिन्दी के आदिकाल में हो गया था। किन्तु दुर्भाग्य से हमारे साहित्य का एकांगी विकास हुआ। अब हमें अर्थात् हमारी एकाडमियों, साहित्य संस्थाओं और हिन्दी प्रेमियों को इस पिछड़ेपन को शीघ्रातिशीघ्र दूर करना चाहिए। हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की अच्छी पुस्तकों के अभाव के अनेक कारण हैं, किन्तु उनमें एक बड़ा कारण यह भी है कि हमारे साहित्य जगत में उनके लेखकों का समुचित आदर नहीं है। ऐसे विषयों पर कुछ पुरस्कार दे देने ही से अथवा ग्रंथ एकाडमियों के द्वारा कुछ विद्वानों को जो हिन्दी-सेवा की भावना से प्रेरित न होकर केवल अच्छे पारिश्रमिक के कारण ऐसी पुस्तकें लिखते हैं—जिनमें कुछ तो अच्छी हिन्दी भी नहीं जानते—प्रचुर धनराशि देकर इन साहित्येतर विषयों के अच्छे लेखक उत्पन्न नहीं किए जा सकते। साहित्य संसार में उनकी उतनी ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए जितनी सर्जनात्मक साहित्य के रचयिताओं की होती है। जब तक हिन्दी साहित्यकार संकुचित रहेगा और अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, तकनीकी विषयों के लेखकों को अपनी बिरादरी में बराबर का दर्जा नहीं देगा तब तक स्थिति में सुधार होने की सम्भावना कम ही है। विश्वविद्यालयों के लिए पाठ्य पुस्तकों और अंग्रेज़ी की ऐसी पुस्तकों को आकर्षक पुरस्कार देकर अनुवाद कराने से हिन्दी का ज्ञान भंडार नहीं बढ़ सकता। उधार साहित्य (जो दूसरे वातावरण में दूसरों के लिए लिखा गया है) न तो बहुत उपयोगी होगा न वह मौलिक साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहन देगा। भय यह है कि अनुवाद पर अधिक बल देने से मौलिक साहित्य के निर्माण की प्रगति अवरुद्ध हो जायगी। मेरा यह वक्तव्य ऐसे सर्जनात्मक साहित्य जैसे उपन्यास, नाटक आदि पर लागू नहीं है। वह ज्ञान-विज्ञान के साहित्य को लक्ष्य करके कहा गया है। हिन्दी वाङ्मय तभी बढ़ेगा जब हिन्दी में मौलिक ग्रन्थ रचे जायेंगे

और उनके रचने वालों को वही आदर प्राप्त होगा जो अन्य साहित्यकारों को मिलता है। इस अभाव का एक परोक्ष कुपरिणाम यह हुआ है कि हिन्दी में ऐसे साहित्य के अभाव में कितने ही अंग्रेजी न जाननेवाले या कम अंग्रेज़ी जाननेवाले इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र से अपरिचित और कूपमंडूक बने रह जाते हैं। अनूदित पुस्तकें उनकी आवश्यकता अधिकतर पूरी नहीं करतीं। मेरा यह कथन साहित्यकारों को लक्ष्य करके नहीं, किन्तु उस विशाल हिन्दी जनता को लक्ष्य करके कहा गया है जो केवल हिन्दी के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर सकती है!

अन्त में मैं एक और बात कहकर आपसे बिदा लूँगा। प्रायः सौ वर्ष लंबे हिन्दी-प्रेमियों के संघर्ष और उनके निस्पृह और सतत प्रयत्न एवं उत्साह से हिन्दी फली-फूली। यहाँ तक कि भारत के संविधान में भी राज्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। प्रायः सभी हिन्दीभाषी राज्यों ने उसे अपनी राजभाषा भी घोषित कर दिया। राजभाषा के वर्तमान रूप और विकास पर यहाँ कुछ न कहूँगा, किन्तु एक बात कहना आवश्यक समझता हूँ। जो आधुनिक हिन्दी सारे देश की भाषा होने और सबको एक सूत्र में बाँधने का दावा करती है और जिसका वह दावा सिद्धान्त रूप में मान भी लिया गया है, उसके अपने क्षेत्र में अस्वस्थ और अकल्याणकारी विघटन तत्व उत्पन्न हो गये हैं। भोजपुरी, अवधी, बुन्देलखंडी, राजस्थानी आदि हिन्दी की भाषाओं के हिमायतियों ने उन्हें अपने-अपने प्रदेश की स्वतंत्र भाषाएँ बनाने का आन्दोलन आरम्भ कर दिया है। मैथिली तो इसमें बहुत कुछ सफल भी हो गयी है। मुझे इसके परिणामस्वरूप तथा उपबोलियों के अतिउत्साही हिमायतियों के प्रयत्नों और आन्दोलनों के फलस्वरूप विभिन्न हिन्दी क्षेत्रों में मैथिली, भोजपुरी, अवधी, कुमाऊँनी, गढ़वाली आदि उपभाषाओं के ऐसे ही आन्दोलनों के लक्षण दीख रहे हैं। हाल ही में मैंने मुंगेर-भागलपुर की बोली में (जिसे वज्जिका का नाम दिया गया है) एक पुस्तक देखी है। यदि इन उपभाषाओं के क्षेत्र बँट गये और उनमें राजकाज

और शिक्षा होने लगी तो जिस आधुनिक हिन्दी को विकसित करने में हमारे पूर्वजों ने इतना श्रम किया उसकी स्थिति इन प्रदेशों में वही रह जायेगी जो गुजरात या महाराष्ट्र में है। शायद मेरा भय निर्मूल हो—और ईश्वर करे कि वह निर्मूल निकले, किन्तु हिन्दी क्षेत्रों में जो विघटनकारी लक्षण दीख पड़ रहे हैं, यदि हम उनको शमन करने में सजग, सावधान और क्रियाशील न रहे तो इससे हिन्दी ही को नहीं, देश की—और विशेषकर हिन्दी क्षेत्र की, एकता को गंभीर खतरा उत्पन्न हो जायगा। हमारी सरकार कोलाहलपूर्ण उपद्रवों के सामने, जो ऐसे कामों के लिए किए जाते हैं जिनमें उसकी विशेष रुचि या स्वार्थ नहीं है, झुक जाना ही श्रेयस्कर समझती है। अतएव मेरी तुच्छ सम्मति में हमें आगे की संभाव्य दुर्घटनाओं से बचने के लिए अभी से सजग और क्रियाशील हो जाना आवश्यक है। उपबोलियों को एक सीमा से अधिक प्रोत्साहन देना खतरे से खाली नहीं है। आशा है कि आप मेरी इस चेतावनी को हिन्दी के व्यापक हितों और देश—विशेषकर हिन्दी क्षेत्र—की एकता की भावना से प्रेरित समझ कर मुझे इस चेतावनी को देने के लिए क्षमा करेंगे।

मेरा अंतिम निवेदन भाषा के वर्तमान रूप के संबंध में है। यह सही है कि गहन विषयों की भाषा बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती और उसमें कुछ पारिभाषिक शब्द लाने ही पड़ेंगे जो सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन होंगे। किंतु इधर भाषा को संस्कृत-बहुल बनाना और नये-नये कठिन शब्द गढ़ कर—विशेषकर अंग्रेज़ी या विदेशी भाषाओं के शब्दों के पर्याय के रूप में—प्रयोग करना बहुत बढ़ गया है। इसे स्वीकार करने में मुझे संकोच नहीं है कि मैं बहुत से अपने आदरणीय विद्वानों की भाषा पूरी तरह नहीं समझ पाता और उनके लेखों का बहुत सा अंश मेरे पल्ले नहीं पड़ता। इस संबंध में १९०६ में श्री गंगाप्रसाद अग्निहोत्री ने जो चेतावनी दी थी मैं उसे आपके सामने नम्रतापूर्वक दुहराने का साहस करता हूँ। उन्होंने लिखा था—"हम लोग बहुत दिनों से सुनते आते हैं कि छोटी-छोटी बातों के लिए संस्कृत की बेमतलब सहायता लेना हानिकारक है, पर हिंदी लेखकों

को इस बात की विशेष चिन्ता नहीं दिखाई पड़ती। इस असावधानी का यह फल होगा कि असल देशी शब्द तो काल पाकर लोप हो जायँगे और एक प्रकार की महापंडिताऊ भाषा जन्म लेगी जिसे हम लोग अपने बेपढ़े भाइयों को कुछ न समझा सकेंगे। इस अनर्थ से वे लोग, जिनको हम अपने बराबर करके देश हित में अपना साथी बनाना चाहते हैं, हमसे दूर हट कर एक जुदी जाति बन जायँगे। इस विषय में हमें मरहठी की देखा-देखी करनी चाहिए जिसमें देशी शब्दों का बड़ा ही मान होता है। सचमुच में संस्कृत शब्दों का आज कल जो अनावश्यक प्रयोग हो रहा है वह किसी समय हानिकारक होगा।"

आपने जिस धैर्य से मेरे विशृंखल विचार सुने उसके लिए आपको पुनः हार्दिक और शतशः धन्यवाद देता हूँ। मुझे यह भ्रम नहीं है कि इससे आपका किसी प्रकार का ज्ञानवर्द्धन हुआ होगा क्योंकि मैंने कोई नयी बात नहीं कही, किन्तु मैंने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करने का प्रयत्न अवश्य किया है। फिर भी यदि इससे आपका कुछ मनोरंजन हुआ हो तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा। एक बार आपके धैर्य और सौजन्य के लिए पुनः हार्दिक धन्यवाद !

शुद्धि पत्र

खेद है कि इस पुस्तक में अनेक छापे की भूलें रह गयी हैं। इसमें प्राथमिक दोष मेरा है। मुझमें इतना धैर्य नहीं है कि अपने लिखे हुए लेखों को दुबारा पढ़ कर उन्हें शुद्ध करूँ। लिखने की रौ में कभी-कभी कोई शब्द मन में रहते हुए भी लिखने से छूट जाता है और कहीं-कहीं वाक्य एक तरह से आरंभ करके उसकी समाप्ति दूसरे ढंग से हो जाती है जिससे वह वाक्य अशुद्ध ही नहीं हो जाता प्रत्युत कभी-कभी उसके अर्थ भी अस्पष्ट हो जाते हैं। सरस्वती के सम्पादकीय भी एक साँस में लिख कर, उन्हे बिना दुहराये, प्रेस में भेज देता हूँ और छपने पर कभी-कभी जब उन्हे पढ़ता हूँ तब भूलें सामने आती हैं। इस भाषण में दुहरी भूल हुई। हाथ से जो कुछ लिखा था उसे वैसा ही टाइपिस्ट को दे दिया और टाइप की हुई प्रति पर बहुत सरसरी तौर से एक निगाह डाल ली। भाषण देते समय उसे पढ़ने में कोई कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि मैं जानता था कि मैंने क्या लिखा है। कविताएँ अधिकांश मुझे याद थीं और उन्हें मैं केवल टंकित अंश का थोड़ा सा सहारा लेकर पढ़ गया। जब इस भाषण का प्रूफ मेरे पास आया तब मैंने उसे कुछ ध्यान से देखा, किंतु अपने लिखे हुए लेख का प्रूफ देखना बहुत कठिन है क्योंकि अशुद्ध ज्ञात शब्दों को भी लेखक शुद्ध पढ़ लेता है। दुर्भाग्य से मेरे पास ऐसा कोई साहित्यिक मित्र नहीं था जो मेरे लंबे भाषण को ध्यान से पढ़ कर उसकी अशुद्धियाँ ठीक कर देता। फिर, दुर्भाग्य से हिन्दी में अच्छे प्रूफ पढ़ने वालों की कमी है। जहाँ टाइप किये हुए अंश प्रत्यक्षतः अशुद्ध थे वे भी प्रूफ पढ़नेवाले ने ज्यों के त्यों छोड़ दिये। एक दो जगह जहाँ 'शुद्ध' किया वहाँ अनर्थ कर दिया। उदाहरण के लिए, आगरे आदि में 'बालक' का रूप 'बालका' भी चलता है और छंद में 'बालक' लिखने से छंद भंग तो हो ही जाता, तुक भी बिगड़ जाती। प्रूफ, पढ़ने वाले ने टंकित 'बालका' का

'बालक' करके पंक्ति को भ्रष्ट कर दिया। 'का' 'की' 'से' 'में' तथा 'ब' और 'व' की अनेक अशुद्धियाँ रह गयी हैं। उन सब अशुद्धियों को ठीक करने का प्रयास इस समय नहीं किया जाता। यदि कभी इसका दूसरा संस्करण हुआ तो मैं सारी अशुद्धियाँ ठीक करने का प्रयत्न करूँगा। किंतु इसके कविता भाग की कविताओं में कुछ ऐसी अशुद्धियाँ रह गयी हैं जिनसे कविता का अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता या कविता में छंद भंग हो जाता है। दुर्भाग्य से जब इस अंश का प्रूफ मेरे पास आया था तब मैं ज्वर में पड़ा था और उसे ठीक तरह से नहीं देख सका। उनका शुद्धि पत्र लगा रहा हूँ। पाठकों से निवेदन है कि वे पुस्तक पढ़ने के पूर्व कम से कम कविताओं को तदनुसार शुद्ध कर लें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५५	१४	indudes	includes
११३	१६	व्रीह्यिपराहणगृही	व्रीहिपराह्णगृही
११४	२	भारतेषु	भरतेषु
१४६	२८	सलहोरी	सलहेरी
१४७	१	साहिज के औरंग	साहन के साह औरंग
१५२	१७	भवर	अंबर
,,	२०	महिला अषार	महिमा अपार
,,	२०–२१	किश्त बायो	कीरति छायौ
,,	२४	गहन ते साथ	गहन तें आय
१५४	१५	करौं	करौ
१५६	६	जीना	ज़ीना
१६०	२७	भारतेन्दु भी जो अंग्रेजी	भारतेन्दु भी अंग्रेजी
१७२	७	थौरी भई	धौरी भई
१७४	२३	अब राजर्षि !"	अब राजर्षि !
,,	२७	जहँ लहि हो	जहँ लगि हो
१७५	१६	मति तुम भूले	मति पै तुम भूले
१७६	२४	पै मातगंगे	पै मातगंगे
१७६	५	धधकि धवकि	धधकि धधकि
,,	२२	चढ़ि चिन्ता	चंडि चिता !
,,	२४	हैं चतुरानन	हे चतुरानन
१८०	१	डाइन यम की	डाइन,
१८२	१३	पढ़िवौहु	पढ़िबौहू
,,	१६	याको संग	याके संग
१८३	२८	इन घातन ही की	इन बातन ही की
१८६	२१	ध्रताची	घ्रताची
,,	२५	प्रचण्ड है	प्रचण्ड का है
,,	अंतिम	किया है मंगथल ने	किया है मंगल ने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१८६	अंतिम	बदासैं के नान की	कणों के गन की
१८७	५	टटोले हैं	टटोलैं है
,,	१२	किधौं अनिमाल	किधौं अलिमाल
,,	१५	भूषण है तेरेश भागिनि,	भूषण हैं तेरे भामिति
,,	,,	दामन से	दामन में
,,	१६	बिगाड़े	बिगाड़ै
१८८	५	करेंगे खण्डन के मान भंजन	करेंगे खंजन के मानभंजन
,,	१३	दर्श करते ही मन माहिं	दर्श करते ही मगन मन माहिं
,,	२१	कलियाँ छोल के	फलियाँ छोल के
,,	२३	खाते रहे सजिन को	खाते रहे जिनको
१८९	१	नगर	नगम
,,	४	जगपति	जगतपति
,,	९	मैं प्रभु वहाँ में थी	मैं प्रभुवश में थी
,,	१४	बालक हूँ	बालका हूँ
,,	२६	न भैस	न भेस
१९१	३	दिये मोंहि	हिये माँहि
१९२	१	विकि जात	बिकि जात
,,	५	ग्रीष्माग्नि कहै	ग्रीष्माग्नि दहै
,,	११	महाप्रसन्नान	महाप्रसन्नानन
,,	१५	जाननीहि	जननीहि
,,	२१	मार्च १८६७	मार्च १८९७
१९८	१५	पहिला वाक्य 'तरंगिणी···कृति है' काट दिया जाय	
,,	२७	पाटोर	पाटीर
१९९	९	तोसौं	तो सौ
,,	१०	'नीच' के बाद 'य' काट दिया जाय	

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२००	४	मानते थे !	मानते थे।
२००	१५	हे श्री मैथिलीसंयुत	श्री मैथिली संयुत
२०२	११	'प्रमोपहार'	'प्रेमोपहार'
२०३	२७	तर्क-कुतर्की	तर्क-कुतर्कों
२०४	१५	कैप-शूज सम्वाद	केप-शूज़ सम्वाद
२०७	११	खड़ीबोली कविता	खड़ीबोली में कविता
,,	१२	दिया जाय	दिया जाता
,,	२६	सकलनारायण पाण्डेय	सकल नारायण शर्मा
२०८	१७	प्रतीक्षा करै	प्रतीक्षा करैं
२३८	२७	उन्हें	उनका